

अंक 3, 40 रुपये

नान्दीपाठ

गीडिया, संस्कृति और समाज पर केन्द्रित



“इतिहास चाहे और किसी क्षेत्र में अपने को दुहरा लेता हो, विचारों के क्षेत्र में वह जो गया, सो गया। उसके लिए अफ़सोस करना बेकार है। पर इतिहास हमारी मदद अवश्य करता है। अनुभव हमारे साहित्यकारों के चित्त को चंचल और वाणी को मुखर बनाते अवश्य हैं, पर व्यक्ति साहित्यकार की विशेषता के रूप में ही जी सकते हैं। हमारे साहित्यकार ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है। अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है, सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का। अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। इतिहास के अनुभव इसी की सिद्धि के साधन बनकर कल्याणकर और जीवनप्रद हो सकते हैं। इस प्रकार हमारी चित्तगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुश और बैठ रहा है – व्यक्ति-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव का प्राधान्य। परन्तु साथ ही उसने मनुष्य को अधिक व्यापक आदर्श और अधिक व्यापक उत्साह दिया है। जब-जब ऐसे बड़े और महान आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है, तब-तब साहित्य नये काव्यरूपों की उद्भावना करता है, नये बाह्य आकारों को प्रकट करता है और जन-जीवन में नवीन आशा और विश्वास का संचार करता है।”

– हजारी प्रसाद द्विवेदी

नान्दीपाठ

मीडिया, संस्कृति और समाज पर केन्द्रित

3

अप्रैल-जून, 2016

नान्दीपाठ

मीडिया, संस्कृति और समाज पर केन्द्रित

अप्रैल-जून 2016

सम्पादक

कात्यायनी / सत्यम

कला : **रामबाबू**

सम्पादकीय सम्पर्क :

69 ए-1, बाबा का पुरवा

पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006

फ़ोन : 9936650658 / 8853093555

ईमेल : naandipath@gmail.com

वेबसाइट : naandipath.in

कम्पोज़िंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

प्रति अंक : 40 रुपये

वार्षिक सदस्यता: 160 रुपये (डाकखर्च अतिरिक्त)

आजीवन सदस्यता : 3000 रुपये

आवर्तिता : त्रैमासिक

कृपया अपना शुल्क **‘नान्दीपाठ’** (Nandipath) के नाम से मनीऑर्डर/ड्राफ्ट/चेक से भिजवायें। मनीऑर्डर के साथ अपना पूरा पता लिखना न भूलें। आप नीचे दिये गये बैंक खाते में भी राशि जमा कर सकते हैं। राशि जमा करने के बाद हमें उसका ब्योरा और अपना पूरा पता जरूर बता दें।

चालू खाता सं. 0762002109003778

पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ,

आईएफ़एससी कोड: PUNB0076200



संपादन-संचालन पूर्णतः अवैतनिक और अव्यावसायिक

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित तथा क्रिएटिव प्रिंटर्स, 628/5-28, शक्तिनगर, लखनऊ द्वारा मुद्रित

इस अंक में

हमारी बात

क्या हमारे देश के जनपक्षधर संस्कृतिकर्मी आसन्न युद्ध के लिए तैयार हैं? 4

अभिलेख

बर्बरता के विरुद्ध संघर्ष पर एक ज़रूरी अवलोकन – बेटोल्ट ब्रेष्ट 8

सिनेमा वैचारिकी

पूँजीवाद का संकट और 'सुपर हीरो' व 'एंग्री यंग मैन' की वापसी (दूसरी किस्त) – अभिनव सिन्हा 13

मीडिया वैचारिकी

पूँजीवाद में विज्ञापनों की विचारधारा और पूँजीवादी विचारधारा का विज्ञापन – शिवानी 44

संगीत

एक नई संगीत संस्कृति के निर्माता – हान्स आइस्लर 55

साहित्य जगत

साहित्य में अवसरवादी घटाटोप के सामाजिक-आर्थिक कारण – कविता कृष्णपल्लवी 70

स्त्री प्रश्न

परम्परा, आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता के सन्दर्भ में एक विमर्श – कात्यायनी 75

सामयिकी

कला-संस्कृति, शिक्षा एवं अकादमिक जगत पर भगवा फासिस्टों का बर्बर हमला – आनन्द सिंह 90

नवसाम्राज्यवाद की रणनीति, लाभरहित संस्थाओं के विखण्डित जनान्दोलन और नोबल पुरस्कारों के निहितार्थ – मीनाक्षी 94

क्या हमारे देश के जनपक्षधर संस्कृतिकर्मी आसन्न युद्ध के लिए तैयार हैं?

नान्दीपाठ के तीसरे अंक को एक बार फिर काफ़ी देरी के साथ लेकर प्रस्तुत होने के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं। इसके लिए कोई बहाना नहीं बनायेंगे। सिर्फ़ माफ़ी माँगेंगे। पत्रिका के पहले दो अंकों पर जितनी प्रेरणादायी प्रतिक्रिया देश भर से प्राप्त हुई है, उसके मद्देनज़र हम आगे से इसे नियमित करने का पूरा प्रयास करेंगे।

आज पूरे देश में संस्कृति और मीडिया का क्षेत्र एक सघन वर्ग संघर्ष का केन्द्र बन रहा है। मौजूदा फासीवादी उभार किसी भी अन्य फासीवादी आन्दोलन के समान राजनीति के संस्कृतिकरण पर आधारित है। यही कारण है कि शैक्षणिक, सांस्कृतिक संस्थाएँ और मीडिया सबसे पहले फासीवादी विकृतिकरण और 'टेक ओवर' का निशाना बन रहे हैं। फासीवादी राजनीति वॉल्टर बेंजामिन के शब्दों में राजनीति का सौन्दर्यीकरण करती है और कम्युनिज़्म सौन्दर्य(शास्त्र) का राजनीतिकीकरण करके फासीवाद को जवाब देता है। बताने की आवश्यकता नहीं है कि राजनीति के सौन्दर्यीकरण की सबसे अहम ज़मीन अक्सर संस्कृति का क्षेत्र बनता है। सांस्कृतिक माध्यमों के ज़रिये ही फासीवादी ताकतें मिथकों को सामान्य बोध के तौर पर स्थापित करती हैं; एक कल्पित अतीत के गौरव को एक कल्पित समुदाय के लिए 'फ़ेटिश' में तब्दील करती हैं; सांस्कृतिक माध्यमों के ज़रिये ही फासीवादी शक्तियाँ अपने राजनीतिक विरोध को अविश्वसनीय बनाती हैं; इन्हीं के ज़रिये फासीवादी शक्तियाँ टुटपूँजिया (पेटी-बुर्जुआ) वर्गों के रूमानी उभार को खड़ा करती हैं। ऐसे में, देश के जनपक्षधर संस्कृतिकर्मियों को आज और अभी यह निर्णय लेना होगा कि वे कहाँ

खड़े हैं? क्या वे युद्धस्तर पर जनता के बीच उतर कर 'संस्कृति के राजनीतिकरण' के लिए तैयार हैं? यह आज प्रगतिशील सांस्कृतिक आन्दोलन के लिए ही नहीं बल्कि समूचे प्रगतिशील आन्दोलन के लिए ही एक अस्तित्व का प्रश्न है। यदि हम आज ही इसका जवाब देने के लिए अपने आपको प्रस्तुत नहीं करते तो शायद कल जवाब देने की स्थिति ही न रह जाये।

कई वामपंथी टीकाकारों, चिन्तकों और बुद्धिजीवियों का यह मानना है कि देश में जो बुर्जुआ-जनवादी संवैधानिक ढाँचा है, देश के सामाजिक ढाँचे की जो विशिष्टताएँ हैं (बहुल पहचानों की मौजूदगी) और मोदी सरकार के सांस्कृतिक व विचारधारात्मक हमलों का जो अतार्किक चरित्र है, जिसे जनता समझ ही जायेगी (!), वह जर्मनी या इटली जैसे फासीवादी उभार को असम्भाव्य बनाता है। पहली बात तो यह है कि वैसे फासीवादी उभार की आज कोई ज़रूरत नहीं है। इतिहास अपने आपको हूबहू दुहराता नहीं है। प्रतिक्रियावादी विचारधाराएँ और आन्दोलन भी अपने अतीत से सीखते हैं। यह सोचना कि जब तक जर्मनी की तरह कोई 'फ्यूहरर कल्ट' या इटली की तरह 'ड्यूस कल्ट' नहीं पैदा होगा, जब तक नंगे तौर पर नस्ली या जातीय सफ़ाये की बात नहीं की जायेगी, जब तक ऑशवित्स जैसी परिघटनाएँ सामने नहीं आयेंगी तब तक फासीवाद का उभार सम्भव नहीं है, एक अनैतिहासिक दृष्टिकोण से पैदा हुई नादानी होगी। 1920 के दशक और आज के दौर में पूँजीवाद के संकट और फासीवादी उभार दोनों में ही कुछ बुनियादी परिवर्तन हुए हैं। 1920 के दशक के समान अब कोई संकट और तेज़ी के दौरों के बारी-बारी से आने की प्रक्रिया नहीं चलेगी; लिहाज़ा, अब संकट में अचानकपन और आकस्मिकता का तत्व भी नहीं होगा। संकट आज पूँजीवादी विश्व व्यवस्था की एक स्थायी परिघटना है। यह पूँजीवादी व्यवस्था का सबसे गहरा संरचनागत संकट है। यह कभी मन्द मन्दी के रूप में मौजूद रहता है तो कभी गहरे संकट का स्वरूप ले लेता है। लेकिन तेज़ी जैसा कोई दौर 1970 के दशक की शुरुआत से ही विश्व पूँजीवाद ने नहीं देखा है। जिस प्रकार संकट अब एक आकस्मिक घटना के रूप में प्रकट नहीं हो रहा है, उसी प्रकार फासीवाद भी अब एक आकस्मिक घटना (रोम पर चढ़ाई या हिटलर के अपवादस्वरूप कानून) के रूप में नहीं घटित होगी। फासीवाद उत्तरकालीन पूँजीवाद (late capitalism) के दौर में पूँजीवादी समाज की एक स्थायी परिघटना के रूप में मौजूद है। यह कभी सत्ता में आ सकता है, तो सत्ता में नहीं भी आ सकता है। दोनों ही सूरतों में यह क्रान्तिकारी आन्दोलन के एक प्रति-भार के रूप में बुर्जुआ वर्ग के हितों की सेवा के लिए एक टुटपूँजिया रूमानी उभार खड़ा करता है। आज फासीवाद इसी रूप में दुनिया के तमाम देशों में मौजूद है। चाहे वह भारत में संघ परिवार हो या यूनान में गोलडेन डॉन, अलग-अलग ऐतिहासिक सन्दर्भों को ध्यान में रखते हुए भी उनकी इस साझा विशिष्टता को देखने से चूकना राजनीतिक अन्धापन होगा। फासीवादी उभार के चरित्र में आने वाले इस परिवर्तन के मद्देनज़र फासीवाद-विरोधी रणनीति में बदलाव के बारे में सोचने का वक्त आज ही है।

दूसरी बात यह कि जिन्हें यह लगता था कि भारत का उदार जनवादी बुर्जुआ संविधान और राज्य फासीवादियों को 'बर्बर से सभ्य बना देगा' वे सभी लोग अपनी बगलें झाँक रहे हैं। पिछले डेढ़ वर्षों में एफटीआईआई, जेएनयू, एचसीयू, आईसीएचआर, आईसीसीआर, आईसीएसएसआर आदि में मोदी सरकार ने जो कुछ किया है, उसके लिए उसे संविधान में

परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी है। 2019 में अपनी आसन्न चुनावी हार को देखकर फासीवादी गिरोह कौन से अपवादस्वरूप कदम उठायेगा इसके बारे में भी दावे से अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि 'सत्ता में निश्चिन्तता से विद्यमान फासीवाद' के मुकाबले 'सत्ता खो देने की असुरक्षा से बौराया हुआ फासीवाद' जनता के लिए तात्कालिक तौर पर कहीं ज़्यादा खतरनाक होता है। ऐसे में, अभी पाँच राज्यों के विधानसभा चुनाव सम्पन्न होने के बाद और विशेष तौर पर 2019 के लोकसभा चुनावों के पहले मोदी सरकार और संघ परिवार जनता के दमन, प्रतिक्रियावादी आन्दोलनों को हवा देने, दंगे करवाने और प्रतिगामी टुटपुँजिया रूमानी उभार को बढ़ाने के लिए किन हदों तक जायेंगे, इसके बारे में कुछ अनुमान ही लगाये जा सकते हैं। यह सोचना भी भयंकर नादानी है कि इतनी सारी जातियों, राष्ट्रीयताओं से भरे देश में फासीवादी उभार सम्भव नहीं है क्योंकि वह देशव्यापी नहीं हो पायेगा। ऐसे लोगों ने इटली और जर्मनी में फासीवादी उभार के विषय में ठीक से जानकारी हासिल नहीं की है। गौरतलब है कि फासीवादी उभार को देश में सत्तासीन होने के लिए पूरे देश में समान सघनता और व्यापकता के साथ उभरना ज़रूरी नहीं है। ऐसा न तो अतीत में हुआ था और न ही आज हो रहा है। निश्चित तौर पर, भारतीय स्थिति भिन्न है ठीक वैसे ही जैसे कि जर्मनी और इटली की स्थितियाँ भी भिन्न थीं। यह भी सच है कि वह समय अलग था और आज का समय अलग है, लेकिन इस परिवर्तन के कारण फासीवादी उभार में क्या बदलाव आये हैं, इसकी चर्चा हम कर चुके हैं।

आज इस नये फासीवादी उभार का मुकाबला करने के लिए जनता के बीच, नागरिक समाज के भीतर क्रान्तिकारी ताकतों को अपनी खन्दकें खोदनी होंगी। और इस कार्य में क्रान्तिकारी संस्कृति की एक महती भूमिका है। हिटलर और मुसोलिनी के उभार की व्याख्या करते हुए तमाम समकालीन कम्युनिस्ट पार्टियों ने इसे 'हिटलर साइकोसिस' और 'ऑब्फ़स्केशन ऑफ़ कॉन्शसनेस' आदि की संज्ञाएँ दी थीं। ये कितनी ग़लत थीं, इसे इतिहास साबित कर चुका है। एक फासीवादी नेता ने एक बार कहा था, "हमारा आन्दोलन एक तात्विक आन्दोलन है। चूँकि यह तर्कों से खड़ा नहीं हुआ है, इसलिए इसे तर्कों से नहीं हराया जा सकता है।" समकालीन कम्युनिस्ट विमर्श में यह प्रश्न ही पूरी महत्ता के साथ नहीं उठाया गया कि जनसमुदायों की और विशेष तौर पर टुटपुँजिया जनसमुदायों की चेतना में ऐसा क्या है जिससे कि वह अपने आर्थिक और भौतिक हितों के विरुद्ध अपने 'साइकोसिस' की इजाज़त देता है? किस रूप में टुटपुँजिया वर्गों में अपनी वर्ग अवस्थिति के कारण स्वयं प्रतिक्रियावादी सम्भावना होती है, चाहे वह सुषुप्त ही क्यों न हो? किस प्रकार यह प्रतिक्रियावादी सम्भावना बुर्जुआ परिवार, बुर्जुआ पितृसत्ता, बुर्जुआ यौनिकता (या उसके दमन), बुर्जुआ नैतिकता, बुर्जुआ राष्ट्रवाद और बुर्जुआ धर्म की रहस्यवादी (mystical) मनोवैज्ञानिक संरचनाओं में घुलमिलकर परिघटनात्मक रूप से प्रकट होती है? क्यों केवल आर्थिक प्रचार ही फासीवादी प्रचार को निरस्त और निष्प्रभावी करने के लिए पर्याप्त नहीं है? क्यों राष्ट्रवाद की रहस्यवादी अपीलें ('भारत माता की जय') टुटपुँजिया वर्ग के बीच आर्थिक प्रचार के मुकाबले कहीं ज़्यादा अनुगूँज पाती हैं? इसके कारणों की पड़ताल की जाये तो हम पाते हैं कि आर्थिक और भौतिक परिस्थितियाँ जिस रूप में अपने आपको सामाजिक चेतना में अभिव्यक्त करती हैं वह बेहद जटिल होता है; किस तरीके से इनके बीच का सम्बन्ध समानुपातिक नहीं होता; विशेष

तौर पर, मध्यवर्ती वर्गों में किस प्रकार आर्थिक और भौतिक परिस्थितियों का चेतना में प्रतिबिम्बन उल्टा (inverted) या किसी अन्य प्रकार से विकृत रूप में होता है; बुर्जुआ उत्पादन सम्बन्धों की ही एक तात्विक इकाई परिवार की इसमें क्या भूमिका होती है; पितृसत्ता बुर्जुआ उत्पादन सम्बन्धों और वर्ग समाज के एक अहम विचारधारात्मक रूप के तौर पर इसमें क्या भूमिका निभाती है; साथ ही, आरोपित और खोखली बुर्जुआ नैतिकता और आचार की इसमें क्या भूमिका होती है; किस प्रकार ये विचारधारात्मक व सांस्कृतिक कारक एक ऐसे अधीनस्थ वर्ग को पैदा करते हैं जो कि फासीवादी प्रचार के सामने राजनीतिक तौर पर अरक्षित होता है। इन सारी प्रवृत्तियों को हम बस टुटपूँजिया वर्गों का पिछड़ापन कहकर खारिज करेंगे, तो समस्या का समाधान नहीं निकलेगा। इसे समझे बगैर हम फासीवादी प्रचार का जवाब देने में कहीं न कहीं असमर्थ होंगे। 1950 के दशक से विशेष तौर पर जर्मनी में शुरू हुए मार्क्सवादी-लेनिनवादी शोध ने फासीवादी उभार के तमाम पहलुओं को परखा और उनका विश्लेषण पेश किया। उस विश्लेषण को समझने की आज शिद्दत से ज़रूरत है और कहने की आवश्यकता नहीं है कि उससे आगे बढ़ने की भी आवश्यकता है।

अब अगर हम इन तमाम कारकों को समझकर आज फासीवाद-विरोधी प्रचार की रणनीति तैयार करें तो हमें यह समझने में ज़्यादा देर नहीं लगेगी कि इसमें संस्कृति और वैकल्पिक मीडिया की क्या भूमिका होगी। आज फासीवाद-विरोधी प्रचार को प्रमुख तौर पर सांस्कृतिक माध्यमों और वैकल्पिक मीडिया पर निर्भर करना होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कार्य करने के लिए हज़ारों प्रतिबद्ध प्रगतिशील संस्कृतिकर्मियों की आवश्यकता होगी जो कि युद्धस्तर पर और ज़मीनी तौर पर जनता के बीच फासीवादी राजनीति, संस्कृति, मूल्यों और विचारधारा को नंगा करते हुए उसे निष्प्रभावी बना सकें। यह क्रान्तिकारी आन्दोलन फासीवाद को वहाँ चोट पहुँचा सकता है, जहाँ इसे सबसे ज़्यादा तकलीफ़ होती है। भारतीय संस्कृति, राष्ट्रवाद, देशभक्ति पर इनके दावों को पूरी तरह से खारिज किया जा सकता है। जनता के बीच जनता की भाषा और जनता के सांस्कृतिक माध्यमों के ज़रिये इनकी पूरी जन्मकुण्डली को खोलना और इनके रहस्यवाद की सच्चाई को उजागर करना आज की बुनियादी ज़रूरत है। इस काम को अगर प्रगतिशील सांस्कृतिक आन्दोलन अभी हाथ में नहीं लेता, अगर अभी वह वामपंथी एक्टिविज़्म की टापूनुमा पहाड़ियों से बाहर नहीं निकलता तो कल बहुत देर हो जायेगी। एक भयंकर युद्ध राजनीतिक तौर पर देश में आसन्न है। एक भयंकर युद्ध संस्कृति की रणभूमि में भी लड़ा जाने वाला है। सवाल यह है कि क्या हम इसके लिए तैयार हैं? क्या हमारे देश के जनपक्षधर प्रगतिशील संस्कृतिकर्मी इस चुनौती को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं? क्योंकि अगर हम यह चुनौती स्वीकार करते हैं तो भी हम हार सकते हैं और ख़त्म हो सकते हैं, लेकिन तब हम जीत भी सकते हैं। लेकिन अगर हम यह चुनौती स्वीकार नहीं करते और किसी किस्म की खुशफहमी पालकर घर बैठे रहते हैं, तो हम पहले ही हार चुके हैं और यह सिर्फ़ वक्त की बात है कि हम कब ख़त्म हो जायेंगे।

(15 अप्रैल)

बर्बरता के विरुद्ध संघर्ष पर एक ज़रूरी अवलोकन

● बेटोल्त ब्रेष्ट

साथियो, मैं विशेष तौर पर कुछ नया कहे बिना उस संघर्ष के बारे में चन्द शब्द कहना चाहता हूँ जो उन ताकतों के विरुद्ध है जो पश्चिमी संस्कृति का दम घोट उसे खून और मिट्टी में मिलाने पर आमादा है या फिर संस्कृति के उन अवशेषों को जो एक सदी के शोषण के बाद हमारे पास बचे हैं। मैं आपका ध्यान बस एक बात की ओर आकर्षित कराना चाहता हूँ जिस पर मेरी राय में स्पष्टता होना अनिवार्य है अगर हमें उन ताकतों के खिलाफ़ संघर्ष को प्रभावी तौर से जारी रखना है और ख़ासतौर पर उनके सम्पूर्ण विनाश के वक्त तक।

जिन लेखकों ने फ़ासीवाद की क्रूरताओं और अत्याचारों को सीधे तौर पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में झेला है और जो उससे पीड़ित हैं, वे मात्र अपने अनुभव और यातना बोध के कारण इन अत्याचारों के खिलाफ़ संघर्ष करने की स्थिति में नहीं हैं। कुछ लोगों का मानना हो सकता है कि अत्याचारों का उल्लेख कर देना पर्याप्त है, ख़ासतौर पर अगर महान साहित्यिक प्रतिभा और विशुद्ध क्रोध विवरण को तात्कालिकता प्रदान करे। और निसन्देह ऐसे उल्लेख बहुत महत्वपूर्ण हैं। उत्पीड़न हो रहा है। ऐसा होने नहीं दिया जा सकता। लोगों को मारा जा रहा है। ऐसा नहीं होना चाहिए। इसके लिए कौन से लम्बे स्पष्टीकरणों की अपेक्षा की जा सकती है? पाठक निश्चित रूप से उठेगा और उत्पीड़कों का प्रतिरोध करेगा। लेकिन साथियो, स्पष्टीकरण अनिवार्य है।

पाठक उठ खड़ा हो सकता है, यह इतना मुश्किल नहीं है।

जून, 1935 में
पेरिस में हुई
'संस्कृति की रक्षा
के लिए लेखकों
की पहली
अन्तरराष्ट्रीय
कांग्रेस' में दिया
वक्तव्य।

लेकिन उसके बाद उत्पीड़क का प्रतिरोध करने का छोटा विषय सामने आता है और यह काफी मुश्किल है। क्रोध मौजूद है, दुश्मन की शिनाख़्त हो चुकी है, मगर उसे घुटनों के बल कैसे झुकाया जाये? लेखक यह कह सकता है कि मेरा काम अन्याय का पर्दाफाश करना है, उसके बाबत क्या करना है यह सवाल पाठक के जिम्मे है। मगर तब लेखक एक अनोखी खोज करेगा। वह यह पायेगा कि क्रोध सहानुभूति की तरह कुछ कुछ परिमाणात्मक होता है, वह इस या उस मात्रा में मौजूद होता है और लुप्त हो सकता है। और सबसे बुरी चीज यह है कि जितना ज़्यादा इसकी आवश्यकता होती है, उतनी ही तेज़ी से यह लुप्त होता है। साथियों ने मुझे बताया कि जब हमने पहली बार यह कहा कि हमारे साथियों का क़त्लेआम किया जा रहा है, तब आतंक की चीखें फैल गयीं और बहुत से लोग हमारी मदद के लिए आये। यह तब की बात है जब कुछ सौ लोगों का क़त्लेआम किया गया था। मगर जब हज़ारों को मौत के घाट उतारने के बाद भी क़त्लेआम रुकने का नाम नहीं ले रहा था, तब सन्नाटा पसर गया और चन्द लोग ही हमारी मदद के लिए आये। यह कुछ ऐसा है: 'जब अपराध बढ़ते हैं, वे अदृश्य हो जाते हैं। जब यातना असहनीय बन जाती है, तब चीखें सुनाई देना बन्द हो जाती हैं। एक इंसान को मारा जाता है, यह देखने वाला व्यक्ति बेहोश हो जाता है। यह स्वाभाविक है। जब बुराई आसमान से बारिश की तरह बरसती है, तब कोई नहीं चिल्लाता "बस करो"।'

तो हालात ऐसे हैं। इन्हें बदला कैसे जा सकता है? क्या इंसान को शोषण की तरफ पीठ मोड़ने से रोकने का कोई रास्ता नहीं है? वह पीठ क्यों मोड़ता है? वह ऐसा इसलिए करता है क्योंकि उसे हस्तक्षेप करने की कोई सम्भावना नज़र नहीं आती। कोई आदमी किसी दूसरे के कष्ट के पलों में ठहरना नहीं चाहेगा अगर वह उसकी मदद करने में असमर्थ हो। आप आघात को रोक सकते हैं बशर्ते आपको पता हो कि प्रहार कब होगा, कहाँ होगा और क्यों, किस उद्देश्य से होगा। और अगर आप आघात को रोक सकते हों, या अगर ऐसा कर पाने की थोड़ी भी सम्भावना मौजूद हो तो उस सूरत में आप पीड़ित के प्रति सहानुभूति महसूस कर सकते हैं। आप ऐसा इसके बिना भी महसूस कर सकते हैं, मगर बहुत देर के लिए नहीं, किसी भी सूरत में उतनी देर के लिए तो नहीं जितनी देर पीड़ित पर कोड़े बरसाये जाते हैं। ये प्रहार क्यों किये जा रहे हैं? क्यों संस्कृति को किसी नाव से पत्थर या रोड़ी की तरह फिज़ूल समझकर फेंका जा रहा है, संस्कृति के इन अवशेषों को जो हमारे पास बचे हैं। क्यों लाखों लोगों की जिन्दगी को, व्यापक बहुसंख्या को, इतना दरिद्र, लाचार बनाया जा रहा है, आधी या पूरी तरह बर्बाद किया जा रहा है? हममें से कुछ लोग इस सवाल का जवाब देने के लिए उत्सुक हैं। उनका जवाब होता है : बर्बरता की वजह से। उनका मानना है कि वे मानवता के एक बड़े और लगातार बढ़ते हिस्से में एक भयानक प्रकोप को अनुभव कर रहे हैं, एक ऐसी भयभीत करने वाली परिघटना जिसका कोई प्रत्यक्ष कारण मौजूद नहीं है, जो अचानक से घटित हो गयी है और सम्भवतः इसी तरह सौभाग्य से लुप्त हो जायेगी। लम्बे समय से दबी हुई या सुषुप्त बर्बरता का विकट उद्भव, एक सहज वृत्ति से जन्मी इच्छा है। जो ये उत्तर देते हैं वे स्वाभाविक रूप से खुद यह समझ जाते हैं कि इससे कुछ ज़्यादा मदद नहीं होती। और वह यह भी समझ जाते हैं कि बर्बरता को प्रकृति की शक्ति या नर्क की अजेय शक्तियों की शक्ति देना भी गलत है। इसलिए वह मानवजाति की उपेक्षित शिक्षा की बात करते हैं। जल्दबाज़ी में कुछ छूट गया या पूरा न किया जा सका। हमें अब उसकी भरपाई करनी होगी।

अच्छाई को बर्बरता के विरुद्ध खड़ा होना होगा। हमें उन बड़े शब्दों का आवाहन करना होगा, उस जादुई नुस्खे का जिसने लम्बे समय से प्यार, आज़ादी, गौरव, न्याय की चिरस्थायी अवधारणाओं से हमारी मदद की है, जिनकी प्रभावोत्पादकता की पुष्टि इतिहास ने की है। और इसलिए वे इन महान जादुई नुस्खों का इस्तेमाल करते हैं। फिर क्या होता है? यह बताये जाने पर कि वह बर्बर है, फ़ासीवाद जवाब में बर्बरता के लिए एक कट्टर जय गीत पेश करता है। कट्टरता का इलज़ाम लगाये जाने पर, वह कट्टरता के लिए स्तुति गाता है। तर्क का निषेध करने का आरोप लगाये जाने पर वह प्रसन्नता से तर्क की निन्दा करने के लिए अग्रसर हो जाता है।

क्योंकि फ़ासीवाद भी यही मानता है कि शिक्षा की उपेक्षा हुई है। उसे मानस को प्रभावित करने और दिलों को दृढ़ बनाने की अपनी काबिलियत से बहुत उम्मीदें हैं। अपने यातना गृहों की बर्बरता के साथ वह अपने स्कूलों, अख़बारों, थिएटरों की बर्बरता को भी जोड़ देता है। वह पूरे राष्ट्र को शिक्षित करता है। हर दिन पूरे राष्ट्र को शिक्षित करता है। उसके पास व्यापक बहुसंख्या को देने के लिए ज़्यादा कुछ नहीं है, इसलिए अहम बात है कि वह उन्हें बहुत ज़्यादा शिक्षित करे। वह खाना मुहैया नहीं करा सकता इसलिए उसे आत्मानुशासन सिखाना पड़ता है। वह उत्पादन का प्रबन्धन नहीं कर पाता और उसे युद्धों की आवश्यकता पड़ती है इसलिए उसे शारीरिक बहादुरी सिखानी पड़ती है। उसे बलिदानों की ज़रूरत पड़ती है इसलिए उसे बलिदान की भावना सिखानी पड़ती है। ये सब भी आदर्श हैं, मानवता से मांगें हैं, इनमें से कुछ ऊँचे आदर्श हैं, मुश्किल मांगें हैं।

अब हम जानते हैं कि इन आदर्शों का उद्देश्य क्या है, कौन यह शिक्षण दे रहा है, और किन्हें इस शिक्षा से फायदा पहुँचेगा। निश्चित तौर पर उन्हें नहीं जिनको शिक्षित किया जा रहा है। हमारे अपने आदर्शों की क्या स्थिति है, जो इन सबसे कहीं ज़्यादा मानवीय हैं? वे निस्सन्देह भिन्न हैं, मगर फिर भी क्या यह सम्भव नहीं कि जब हम अपने आदर्श गढ़ते हैं तब हमारे दुश्मन और हमारे बीच कुछ समानताएँ हों? यहाँ तक कि हममें से जो निष्ठुरता और बर्बरता में आधारभूत बुराई देखते हैं, वे भी ऐसे बात करते हैं जैसे हमने ऊपर देखा, केवल शिक्षा के बारे में, केवल लोगों के मस्तिष्क में हस्तक्षेप करने के बारे में, इसके अलावा किसी और प्रकार के हस्तक्षेप के बारे में नहीं। वे लोगों को अच्छा बनाने के लिए शिक्षित करने की बात करते हैं। मगर अच्छाई अच्छा बनने की माँग से नहीं आयेगी, सबसे कठोर परिस्थितियों में भी अच्छा रहने की माँग करना, ठीक वैसे ही है जैसे यह कि बर्बरता सिर्फ बर्बरता से पैदा नहीं होती।

मैं खुद बर्बरता के लिए बर्बरता में यकीन नहीं रखता। इस आरोप से मानवता की रक्षा होनी चाहिए कि अगर बर्बरता के लाभ इतने आकर्षक न हों तो भी वह बर्बर ही रहेगी। मेरे मित्र फ़ुख़्तवैंगर (Feuchtwanger) की यह बात एक मज़ाकिया उलटबाँसी है कि नीचता आत्महित पर हावी हो जाती है, मगर वे सही नहीं हैं। बर्बरता बर्बरता से पैदा नहीं होती बल्कि उन व्यापारिक समझौतों से पैदा होती है जिन्हें बर्बरता के बिना अंजाम दे पाना सम्भव नहीं होता।

जिस छोटे देश से मैं आता हूँ वहाँ कई अन्य देशों के मुकाबले परिस्थितियाँ इतनी भयावह नहीं हैं। मगर फिर भी हर सप्ताह मांस के लिए पाले गये 5000 स्वस्थ पशुओं को

नष्ट कर दिया जाता है। यह एक भयानक बात है, मगर यह किसी आकस्मिक रक्तपिपासा का विस्फोट नहीं है। अगर ऐसा होता, तो शायद हालात इतने भयावह नहीं होते। मांस के लिए पाले गये पशुओं को नष्ट करना और संस्कृति को नष्ट करना किसी बर्बर प्रवृत्ति के कारण नहीं हैं। दोनों सूरतों में माल का एक हिस्सा जिसे बनाने में बहुत मेहनत लगी है, नष्ट किया गया है क्योंकि वह एक बोझ बन गया है। जितनी भुखमरी पाँचों महाद्वीपों पर फैली हुई है उसके मद्देनजर ऐसे उपाय निसन्देह एक अपराध है, मगर इनका उपद्रव से दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं है। पृथ्वी पर आज ज़्यादातर देशों में ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ हैं जिनमें हर तरह के अपराधों को पुरुस्कृत किया जाता है और गुणों का ऊँचा दाम लगाया जाता है। 'अच्छा आदमी निराश्रय है और निहत्थे आदमी को पीट पीट कर मिट्टी में मिला दिया जाता है मगर बर्बरता से आप कुछ भी हासिल कर सकते हैं। नीचता 10,000 साल के राज के लिए तैयारी कर रही है। दूसरी तरफ अच्छाई को अंगरक्षक की जरूरत है मगर वह निराश्रय है।'

हमें लोगों से सिर्फ अच्छाई की मांग करने के खिलाफ ध्यान देना चाहिए! आखिरकार हमें भी असम्भव की मांग करने की कोई इच्छा नहीं है। हमें भी खुद को तिरस्कार की उस हद तक नहीं ले जाना चाहिए जहाँ हम भी इंसानों से महामानव बनने की अपीलें करे। यानि कि महान गुणों का इस्तेमाल करते हुए भयावह परिस्थितियों को झेलने का आह्वान करें जिन्हें, हालाँकि बदला जा सकता है, बदला नहीं जाना चाहिए। हमें सिर्फ संस्कृति के पक्ष से बात नहीं करनी चाहिए। हमें संस्कृति पर दया करनी चाहिए मगर उससे पहले हमें मानवता पर दया दिखानी चाहिए। जब मानवता की हिफाजत की जायेगी तब संस्कृति भी महफूज रहेगी। हमें भावना में बहकर यह दावा नहीं करना चाहिए कि इंसान संस्कृति के लिए बना है न की संस्कृति इंसान के लिए।

साथियो, हमें इस बुराई की जड़ पर विचार करना होगा।

आज एक महान सिद्धान्त हमारी धरती पर जन-साधारण के लगातार बढ़ रहे हिस्से के बीच अपनी पैठ बना रहा है। यह सिद्धान्त जो खुद बहुत नवीन है हमें सिखाता है कि सारी बुराईयों की जड़ स्वामित्व की शर्तों में है। हर महान सिद्धान्त की तरह इस सरल सिद्धान्त ने जनता के उस हिस्से के बीच अपनी पैठ बना ली है जो मौजूदा सम्पत्ति सम्बन्धों और उनकी रक्षा के लिए इस्तेमाल किये जाने वाले बर्बर तरीकों के जुए तले पिस रहे हैं। एक देश जो पृथ्वी के कुल क्षेत्रफल के छठवें हिस्से पर फैला है, जहाँ शोषित और सम्पत्तिहीन वर्ग ने सत्ता को अपने हाथों में ले लिया है वहाँ इस सिद्धान्त को व्यवहार में उतारा जा रहा है। वहाँ न तो खाना नष्ट किया जाता है और न ही संस्कृति।

हममें से कई लेखक जिन्होंने फ़ासीवाद की बर्बरता को अनुभव किया है और उससे भयाकुल हुए हैं उन्होंने ने भी इस सिद्धान्त को अभी तक नहीं समझा है। उन्होंने अभी तक इस बर्बरता की जड़ की खोज नहीं की है जो उन्हें इस कद्र भयभीत करती है। उनके लिए यह खतरा मंडराता रहता है कि वह फ़ासीवाद की बर्बरता को अनावश्यक बर्बरता मान लेंगे। वह सम्पत्ति स्वामित्व के सम्बन्धों से यह समझ कर चिपके रहते हैं कि फ़ासीवाद की बर्बरता इन सम्पत्ति सम्बन्धों की रक्षा करने के लिए आवश्यक नहीं है। लेकिन अगर मौजूदा सम्पत्ति स्वामित्व की शर्तों को बरकरार रखना है तब निसन्देह यह बर्बरता आवश्यक है। यहाँ विशिष्टतः फ़ासीवादी झूठ नहीं कह रहे बल्कि सच बोल रहे हैं। हमारे वे दोस्त जो फ़ासीवाद

की बर्बरता से उतने ही भयभीत हैं जितने हम, मगर जो सम्पति स्वामित्व की शर्तों को सुरक्षित रखना चाहते हैं या फिर उनके बचाव के प्रति उदासीन है वह बर्बरता के खिलाफ पर्याप्त रूप से सशक्त या निरन्तर संघर्ष नहीं कर सकते जिसकी अभी सबसे ज़्यादा जरूरत है। क्योंकि वे न तो उन सामाजिक परिस्थितियों को नाम दे सकते हैं न ही उनके निर्माण में सहायता कर सकते हैं जिनमें बर्बरता के लिए कोई जगह नहीं होगी। वे जिन्होंने इस बुराई की जड़ की अपनी खोज में सम्पति स्वामित्व के सम्बन्धों को मौजूद पाया, उन्होंने खुद को बर्बरता के नरक में और गहरे उतरते हुए पाया जब तक वे उस जगह नहीं पहुँच गये जहाँ मानवजाति के एक छोटे से टुकड़े ने अपना बेरहम राज काबिज किया हुआ है। उन्होंने इस राज को निजी सम्पति अधिकारों में निहित किया हुआ है जो दूसरे इंसान पर शोषण करने में उनकी मदद करता है और जिस अधिकार की रक्षा वे आखिरी दम तक करते हैं। एक ऐसी संस्कृति की कीमत पर जिसने प्रतिरक्षा करना छोड़ दिया है या जो आत्मरक्षा करने में असमर्थ है। हर उस इंसानी सहास्तित्व के नियम की कीमत पर जिसके लिए मानवता ने बेहद बहादुरी और उग्रता से लम्बे समय तक संघर्ष किये।

साथियों हमें सम्पति स्वामित्व की शर्तों के बारे में बात करनी चाहिए।

बर्बरता के उदय के विरुद्ध संघर्ष के विषय के सम्बन्ध में मुझे यही कहना था, ताकि यहाँ भी यही कहा जाये या फिर मुझे भी यही कहना चाहिए था।

अनुवाद: अमित

संकट ठीक इसी तथ्य में निहित है कि पुराना मर रहा है और नये का जन्म नहीं हो सकता; इस सन्धिकाल में तमाम किस्म के रुग्ण लक्षण उभर आते हैं।

— अन्तोनियो ग्राम्शी, प्रिज़न नोटबुक्स

पूँजीवाद का संकट और 'सुपर हीरो' व 'एंग्री यंग मैन' की वापसी (दूसरी किस्त)

- अभिनव सिन्हा

अमेरिकी कॉमिक्स व हॉलीवुड में सुपरहीरो फ़िक्शन

हॉलीवुड फिल्मों में भी 'एंग्री यंग मैन' का एक दौर रहा था, जिसमें एक हद तक मार्लन ब्राण्डो की 'ऑन द वॉटर फ्रण्ट' जैसी फिल्मों समेत कुछ ऐसी धुर प्रतिक्रियावादी फिल्मों को भी देखा जा सकता है, जिन्हें 'एंग्री व्हाइट मेल' फिल्मों के तौर पर गिना गया। इनमें क्लिंट ईस्टवुड की कई फिल्मों और साथ ही रॉबर्ट डि नीरो की 'टैक्सी ड्राइवर' प्रमुख तौर पर शामिल की जाती हैं। लेकिन इन फिल्मों के नायक भारत के एंग्री यंग मैन से आम तौर पर काफी अलग थे। इसके अपने ऐतिहासिक कारण हैं। भारत में एंग्री यंग मैन आज़ादी के बाद समानता और न्याय के जिन सपनों के टूटने की पैथोलॉजिकल प्रतिक्रिया के तौर पर अस्तित्व में आया था, हॉलीवुड में ऐसी प्रतिक्रिया की गुंजाइश काफी सीमित थी। लेकिन हम यहाँ हॉलीवुड में आजकल ज़्यादा प्रभावी फिल्म जॉनर सुपरहीरो फिल्मों पर चर्चा करना चाहेंगे।

सुपरहीरो फिल्मों की हॉलीवुड में विशेष तौर पर 1980 के दशक से कोई कमी नहीं रही है। लगभग सभी सुपरहीरो कॉमिक्स जगत से लिये गये हैं। 1930 के दशक में बैटमैन और सुपरमैन के कॉमिक्स के पन्नों पर अवतरित होने और उसके बाद 1950 और 1960 के दशक में दर्जनों नये सुपरहीरोज़ के पैदा होने के बाद ये कॉमिक्स अमेरिका में काफी लोकप्रिय हुई थीं, हालाँकि तब इनकी विचारधारात्मक भूमिका, थीम व सन्दर्भ हॉलीवुड की सुपरहीरो

फिल्मों की तुलना में काफी अलग थे, जिन पर हम आगे आयेंगे। इन सुपरहीरोज़ पर टेलीविज़न कार्यक्रम भी बने और लोकप्रिय भी हुए। सुपरहीरो फिल्मों का दौर 1980 के दशक से शुरू होता है। 1980 और 1990 के दशक में बनी सुपरहीरो फिल्मों में कॉमिक्स की शैली का गहरा असर मौजूद था। यह असर 2000 के दशक के साथ दूर हो गया। 2000 के दशक को सुपरहीरो फिल्मों के युग की सही मायने में शुरुआत माना जा सकता है।

2014 में आयी फिल्म 'गार्डियन्स ऑफ गैलेक्सी' ने 60 करोड़ डॉलर शुरुआती सप्ताह में ही कमा लिये, 'अवेजर्स असेम्बल' ने 1.5 अरब डॉलर की कमाई की, 'आयरन मैन 3' ने 23 दिनों में ही 1 अरब डॉलर का आँकड़ा पार कर लिया, 'कैप्टन अमेरिका 2' ने पहले सप्ताहान्त में 7.52 करोड़ डॉलर कमाये और 'डार्क नाइट राइज़ेज़' ने कुल 10.8 अरब डॉलर कमाये थे। 2000 के दशक की शुरुआत में बनी 'एक्स मेन' से सुपरहीरो फिल्मों का एक नया दौर शुरू हुआ और कई वैश्विक तौर पर सफल सुपरहीरो फिल्में तब से बन चुकी हैं। 2006-7 के बाद से इन फिल्मों के बनने की रफ्तार और कमाई दोनों में और भी ज़्यादा बढ़ोत्तरी हुई है। आज तमाम अग्रणी हॉलीवुड स्टूडियो केवल कमाई को ध्यान में रखकर ये फिल्में नहीं बना रहे हैं। इन फिल्मों की एक विचारधारात्मक भूमिका है और इनके बनने का एक विचारधारात्मक सन्दर्भ मौजूद है। कोई भी कलात्मक रचना और विशेष तौर पर फिल्म मौजूदा विचारधारात्मक तन्त्र का अंग होती है। इनमें से कुछ वर्चस्वकारी विचारधारात्मक तन्त्र को चुनौती दे सकती हैं, तो अन्य इसकी पुष्टि करने और इसे और सशक्त बनाने का काम करती हैं। ज़्याँ लुक कोमोली और ज़्याँ नारबोनी ने इन दोनों ही श्रेणी की फिल्मों के बारे में लिखा है, "पहली और सबसे बड़ी श्रेणी उन फिल्मों की है जो पूरी तरह से प्रभुत्वशाली विचारधारा में शुद्ध रूप में और बिना किसी मिलावट के रंगी हुई हैं, और ऐसा कोई संकेत नहीं देती हैं कि उनके निर्माताओं को इस तथ्य की कोई भनक थी भी या नहीं। हम केवल कॉमर्शियल फिल्मों की बात नहीं कर रहे हैं। इन सभी श्रेणियों की अधिकांश फिल्में विचारधारा की अचेत उपकरण होती हैं और उसे पुनरुत्पादित करती हैं।"

पिछले अंक में हमने कलात्मक रचना और आम तौर पर कला की भूमिका को रेखांकित करते हुए स्पष्ट किया था कि कला का प्रकार्य केवल यथार्थ का चित्रण करना नहीं होता; इसका कार्य यथार्थ से अनुपस्थित मूल्यों की आपूर्ति करना भी होता है। इस अभाव (lack) को सम्बोधित करते हुए कला कलाकार की सामाजिक-आर्थिक अवस्थिति और उसके द्वारा चुनी गयी राजनीतिक अवस्थिति के अनुसार एक प्रगतिशील भूमिका भी अदा कर सकती है और एक प्रतिक्रियावादी भूमिका भी अदा कर सकती है। यथार्थ में मौजूद अभाव या अनुपस्थिति को बुर्जुआ कला अपनी वर्ग विचारधारा के अनुसार भरती है और सर्वहारा कला अपने विश्व दृष्टिकोण के ज़रिये भरती है। (कला के प्रकार्यों के विषय में हमारी मूल प्रस्थापना के लिए देखें, नान्दीपाठ, जुलाई-सितम्बर 2013, पृ. 19-20) इसी रूप में कला हर-हमेशा एक राजनीतिक व विचारधारात्मक वस्तु होती है। 'सारा सिनेमा राजनीतिक है।'

सुपरहीरो फिल्मों को भी हम इस बुनियादी प्रस्थापना की रोशनी में ही विश्लेषित करेंगे और यह देखने का प्रयास करेंगे कि मौजूदा सुपरहीरो फिल्में कौन-से अनुपस्थित मूल्यों की आपूर्ति कर रही हैं और किसी राजनीतिक और विचारधारात्मक अवस्थिति से कर रही हैं। लेकिन उससे पहले 'अतिमानव' की पूरी अवधारणा पर संक्षिप्त चर्चा हमारे लिए लाभदायक होगी।

सुपरमैन की अवधारणा और नीत्शे का उबरमेंश

सभी सुपरहीरो अतिमानव होते हैं। कई बार फ्रेडरिख नीत्शे के सुपरमैन (उबरमेंश, ubermensch) और कॉमिक्स की दुनिया के सुपरमैन (अतिमानवों) के बीच रिश्ता बिठाया जाता है। कुछ लोगों का मानना है कि दोनों के बीच कोई रिश्ता नहीं है। लेकिन अगर करीबी से देखा जाय तो इन दोनों के बीच गहरा रिश्ता है। नीत्शे का उबरमेंश (अतिमानव) तकलीफों के ज़रिये पैदा होता है। बल्कि आप कह सकते हैं कि नीत्शे एक प्रकार से 'तकलीफों के कल्ट' का निर्माण करते हैं। उनके अनुसार हर महान व्यक्ति इन तकलीफों के ज़रिये शिक्षित होकर महान ऊँचाइयों तक पहुँचता है। नीत्शे के अतिमानव के पूरे दर्शन के पीछे जो पूरी सोच है वह कुछ लोगों के विशेषाधिकार को स्वीकार्य मानने पर आधारित है। ये लोग उत्पादक श्रम में हिस्सेदारी नहीं करते हैं और यहाँ तक कि उन्हें प्रभुत्व स्थापित करने के "श्रम" से भी पूर्ण मुक्ति मिली हुई होती है। वे मुक्त रूप से जीवन की सभी अच्छी चीज़ों का इस्तेमाल करते हैं। नीत्शे ज़रथुस्त्र के साधारण लोगों और योद्धाओं, विधि-निर्माताओं और राजाओं के बीच के अन्तर की बात करते हैं और कहते हैं कि उबरमेंश इन दोनों से भी ऊपर होता है, क्योंकि उसे शासन करने के भोंडे कार्य से भी मुक्ति मिली होती है। उबरमेंश केवल मूल्यों का निर्माण करते हैं, वे पूरी सभ्यता को प्रेरित करते हैं। धरती पर वे वही भूमिका अदा करते हैं जो कि ईश्वर निभाता है। उबरमेंश किसी भी नियम, बाध्यता, या नैतिक बन्धन से नहीं बँधा होता है। वह रोमांच और खुशी से भरी ज़िन्दगी बिताता है। उसका एकमात्र कार्य होता है अपने आपको उत्कृष्ट से उत्कृष्ट बनाते जाना और नीत्शे के अनुसार यह तभी सम्भव है जब वह अपने आपको दया-भाव से पूर्ण रूप से मुक्त कर ले। यही वह चीज़ है जोकि उसे उबरमेंश की स्थिति से नीचे गिरा सकती है। नीत्शे दया की भावना से यह नफरत और मानवतावाद-विरोध ज़रथुस्त्र से सीखते हैं। उनके अनुसार, दया की यह भावना एक मानवतावादी मूल्य है जिसका उबरमेंश के जीवन में कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

नीत्शे का मानना है कि यह उबरमेंश सभी नैतिक मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करेगा। नीत्शे के अनुसार, पश्चिमी बुरुजुआ समाज की नैतिकता और आचार-संहिताओं की कोई प्रासंगिकता नहीं है और इसके 'रैडिकल' पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है। लेकिन अगर हम इस 'पुनर्मूल्यांकन' की जड़ में जायें तो उसमें कुछ भी रैडिकल नहीं है। यह बुरुजुआ प्रबोधन और तर्कणा में जो भी सकारात्मक था, जो भी मानवीय था, जो भी वैज्ञानिक था उसकी आलोचना करता है, लेकिन बुरुजुआ वर्ग की पूरी पूँजीवादी व्यवस्था और उसमें निहित शोषण की आलोचना नहीं करता। बल्कि नीत्शे का उबरमेंश का सिद्धान्त बिना किसी अपराध-बोध के नंगे दमन और उत्पीड़न के साथ शोषण करने, हर प्रकार के नैतिक बन्धन को समाप्त कर देने की हिमायत करता है। नीत्शे की 'रैडिकल' आलोचना वास्तव में आधुनिकता और प्रबोधन के हरेक सकारात्मक मूल्य की आलोचना है। यह आलोचना अन्त में हर चीज़ को 'शक्ति की इच्छा' पर ले आती है। यही वह चीज़ है जो कि उबरमेंश की नैतिकता को साधारण लोगों और दासों से अलग करती है। यह नैतिकता और कुछ नहीं बल्कि शासक वर्ग की नैतिकता का वह रूप है जिसे उबरमेंश ने पूर्णता (perfection) तक पहुँचा दिया है। उबरमेंश का दर्शन शक्ति की उस इच्छा का प्रतिबिम्बन है जो किसी भी प्रकार की नैतिकता, मानवीय मूल्य या तार्किकता के बन्धन को नहीं मानता।

नीत्शे के इस दर्शन को जिस वर्ग के बीच आधार मिला वह टुटपूँजिया वर्ग के बुद्धिजीवी

थे। नीत्सो के दर्शन में कानून मानने वाले, नैतिकता और आचार-संहिताओं को मानने वाले साधारण बुर्जुआ नागरिक के प्रति भारी अवमानना का भाव है और उनका बुर्जुआ उबरमेश अपने किसी भी कार्य के प्रति पूर्ण रूप से बेशर्म है, किसी भी कार्य के लिए कभी भी क्षमा याचना नहीं करता, अपराध-बोध से मुक्त है। इस कल्पना ने और साथ ही नीत्सो के पूरे दर्शन ने वर्जना और कुण्ठा के शिकार टुटपूँजिया वर्गों के मस्तिष्कों को और समाज में अधर में पड़े उनके जीवन को एक ज़बर्दस्त प्रतिक्रियावादी फन्तासी दी। यही कारण था कि इस वर्ग को नीत्सो के रूप में अपना देवदूत और ऋषि मिल गया। नीत्सो का मानना है कि मानवता उबरमेश के स्तर तक तब पहुँचेगी जब कि वह जनवाद और ईसाई धर्म से पूर्ण रूप से मुक्ति पा लेगी। नीत्सो का मानना था कि जनवाद 'समानता' के नाम पर जानवरों के झुण्ड को जन्म देता है। मजेदार बात यह है कि नीत्सो का स्वयं मानना था कि उबरमेश के उसके सिद्धान्त को जनसाधारण के बीच लोकप्रिय बनाने का ज़्यादा प्रयास नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि इससे दासों की नस्ल उन तमाम भारी, उबाऊ उत्पादक कार्यों को करने से इंकार कर देगी, जिन्हें करने के लिए वह बनी है।

नीत्सो के बारे में बाद के दौर में कई नववामपंथी चिन्तकों, उत्तरआधुनिकतावादी चिन्तकों ने नये प्रकार के कुछ पुनर्मूल्यांकन पेश किये जिनके अनुसार नीत्सो का दर्शन प्रतिक्रियावादी नहीं था, बल्कि वह तो केवल पूँजीवादी नैतिकता और प्रबोधन तर्कणा के दमनकारी मूल्यों की आलोचना कर रहा था। इस खोखली आलोचना पर हम आगे आयेंगे, लेकिन अभी इतना समझा जा सकता है कि नीत्सो का उबरमेश बुर्जुआ मानवतावाद, नैतिकता, जनवाद आदि की भावनाओं की आलोचना करते हुए कभी भी बुर्जुआ लूट और शोषण के फलों का मज़ा लेने में कुछ भी ग़लत नहीं देखता। उल्टे वह इस लूट और शोषण के फलों का बिना किसी अपराध-बोध के और खुलकर मज़ा लेने का हिमायती है! वह बुर्जुआ उत्पादन सम्बन्धों से बैर नहीं रखता। वह उन बुर्जुआ आदर्शों और मूल्यों की आलोचना करता है जो प्रगतिशील जनवादी बुर्जुआ दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित आदर्श और मूल्य थे, मगर जो बुर्जुआ वर्ग के वास्तविक शासन के साथ बेमेल थे। नीत्सो इस अन्तरविरोध को मिटाते हैं और बुर्जुआ दमन और शोषण को निर्बन्ध और नंगे, बेशर्म रूप में अंजाम देने का दर्शन रचते हैं। बुर्जुआ लूट और शोषण से बचने का अधिकार केवल इस 'शक्ति की इच्छा' पर निर्धारित है। जिनके पास ये 'शक्ति की इच्छा' है, उन्हें श्रम, लूट और शोषण के जुवे से पूर्ण मुक्ति है। नीत्सो केवल उन बुर्जुआ मूल्यों की आलोचना करते हैं जो कि दासों की नस्ल के प्रति रवैये को विनियमित करते हैं, नियंत्रित करते हैं। इसीलिए नीत्सो का नारा है, "कुछ भी सत्य नहीं, हर चीज़ की इजाज़त है!"

1960 के दशक के बाद से नीत्सो की बौद्धिक अपील में कुछ बढ़ोत्तरी हुई है। इसका एक प्रमुख कारण था आधुनिकता और प्रबोधन को पश्चिमी दमनकारी परियोजना का अंग मानने वाले तमाम उत्तरआधुनिक, उत्तरसंरचनावादी विचारकों द्वारा नीत्सो के विचारों का एक अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक पुनर्मूल्यांकन। ऐसा करने वालों में मिशेल फूको, गाइल्स देल्यूज़ से लेकर रिचर्ड रॉटी जैसे उत्तरआधुनिकतावादी व्यवहारवादी तक शामिल थे। इन लोगों ने अलग-अलग तरह से नीत्सो का बौद्धिक पुनर्वास करने का प्रयास किया है। इनका मानना है कि नीत्सो को ग़लत कारणों से एक प्रतिक्रियावादी दार्शनिक के तौर पर खड़ा किया गया जबकि वह केवल बुर्जुआ आधुनिकता, प्रबोधन और नैतिकता की आलोचना कर रहे थे।

जैसा कि हम देख चुके हैं कि नीत्शे की आलोचना बुर्जुआ वर्ग के शासन को प्रबोधन की तर्कणा और पुनर्जागरण के मानवतावाद से मुक्त करने के लिए है; वह समूचे बुर्जुआ समाज, व्यवस्था और दर्शन की आलोचना नहीं है, बल्कि पूँजीवाद के संकटग्रस्त और मरणासन्न दौर में पैदा हुई पतनशील पूँजीवादी प्रतिक्रिया है। **डॉमिनिक लोसूर्दो** नामक विद्वान ने नीत्शे के दर्शन और उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ पर सराहनीय काम करते हुए दिखलाया है कि नीत्शे का पूरा चिन्तन उनके दौर के आम जनता के जुझारू आन्दोलनों, मजदूर आन्दोलनों और क्रान्तिकारी आन्दोलनों के विरुद्ध और समानता और जनवाद के समाजीकरण के विचार के विरुद्ध विकसित होता है। लोसूर्दो के अनुसार, 1789 में फ्रांसीसी क्रान्ति से जो प्रक्रिया शुरू हुई और 1848 की क्रान्ति से होती हुई 1871 के पेरिस कम्यून तक पहुँची, नीत्शे का पूरा दर्शन उसी प्रक्रिया के प्रति एक गहरी शत्रुता की भावना से विकसित होता है। 1872 में नीत्शे ने एक पुस्तक लिखी 'दि बर्थ ऑफ ए ट्रैजेडी'। इस रचना को लोसूर्दो ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखते हुए बताते हैं कि यह पश्चिमी जनवादी और समानतामूलक राजनीतिक व दार्शनिक परम्पराओं के विरुद्ध नीत्शे का पहला बौद्धिक हमला था। इस रचना में वह दासों के बर्बर विद्रोह के खतरे का जिक्र करते हैं और जर्मन राज्य की ओर वापसी और साथ ही प्राचीन यूनानी गौरव के दिनों की ओर वापसी का आह्वान करते हैं। अपने आधुनिकता-विरोधी दर्शन को नीत्शे इस पुस्तक में यहूदी-विरोध, ईसाई धर्म की आलोचना और अमेरिकी उदारवादी विचारों के प्रति शत्रुता के चोगे में पेश कर रहे थे।

इस रचना के बाद नीत्शे ने नंगे यहूदी-विरोध से किनारा कर लिया। इसके बाद लोसूर्दो के अनुसार उनकी दार्शनिक यात्रा तीन चरणों से होकर गुजरी। पहला चरण था वैग्नर का अनुयायी बनने का चरण। दूसरे चरण में नीत्शे फ्रांसीसी नैतिकतावादियों की शरण में गये और आखिरी चरण में वे घोर नैतिकता-विरोध और ज़रथुस्त्र के मसीहाई प्रतिक्रियावाद तक पहुँचे। लेकिन हरेक चरण में नीत्शे के विचारों को प्रेरित करने वाली जो चीज़ थी वह था आम मेहनतकश जनता के जुझारू आन्दोलन और सर्वहारा वर्ग का वर्ग संघर्ष के प्रति गहरी घृणा की भावना। उनके जीवन के दौर में हो रहे मजदूर आन्दोलन और क्रान्ति का मँडराता खतरा नीत्शे के पैथोलॉजिकल सदमे (trauma) का मूल कारण था। मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए वह बुर्जुआ वर्ग के मानवतावाद, जनवाद, प्रबोधन, तर्कणा व आधुनिकता आदि को ज़िम्मेदार ठहराते हैं। उनके अनुसार, यह वायरस 1789 में, प्रबोधन के दौरान, धार्मिक सुधार आन्दोलन या पुनर्जागरण के समय नहीं लगा था, बल्कि यह वायरस प्राचीन काल में ही पश्चिमी सभ्यता को यहूदी धर्म से लगा था। यह वह मूल पाप है जो कि पश्चिमी सभ्यता से तभी से चिपका हुआ है। आर्य प्रोमेथियस के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में हीन यहूदी खड़ा है। इस स्थिति को दुरुस्त करने के लिए या तो नये जर्मन साम्राज्य की स्थापना करनी होगी, या फ्रांसीसी नैतिकतावादियों या ज़ारवादी रूस से उम्मीद करनी होगी। गौर करें कि ये सभी उस समय के यूरोप में प्रतिक्रियावादी शक्तियों के प्रतीक थे।

नीत्शे का अनैतिकता के पक्ष में आह्वान, अच्छे और बुरे के फर्क को समाप्त करने की वकालत, और 'शक्ति की इच्छा' को एकमात्र नैतिकता बताना वास्तव में उसका ईसाई धर्म (जिसके कुछ प्रगतिशील तत्वों की शुरुआती समाजवादी विचारों के जन्म में एक भूमिका थी), समाजवादी विचारधारा और हेगेल के दर्शन के इतिहास से एक प्रकार का छाया-युद्ध था। जब नीत्शे कहते हैं कि बर्बरों के ऊपर हेरेनवोक (श्रेष्ठ नस्ल) का शासन होना नैसर्गिक

है तो दरअसल वे उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का समर्थन कर रहे होते हैं। और जब नीत्शे एक नयी ज़्यादा उन्नत सभ्यता के लिए एक नयी दास व्यवस्था की वकालत करते हैं, तो उनका निशाना अमेरिकी गृहयुद्ध और दास प्रथा उन्मूलन था। नीत्शे के दर्शन को अगर संक्षेप में रखा जाय तो यह पतनशील वृद्ध हो रहे पूँजीवाद का प्रतिक्रियावादी यथार्थवाद है। यह पूँजीवादी यथार्थवाद पूँजीवाद के आदर्श (ideal) और वास्तविक (real) के अन्तर को अनावृत्त कर देता है। यह दिखलाता है कि पूँजीवादी शोषण की व्यवस्था का प्रबोधनकालीन तर्कणा, पुनर्जागरणकालीन मानवतावाद और जनवाद, समानता आदि के मूल्यों से बुनियादी तौर पर मेल नहीं है। नीत्शे बुर्जुआ वर्ग को बिना किसी अपराधबोध और नैतिकता के पूर्ण रूप से अनैतिक, दयाहीन, अमानवीय बन जाने का 'नैतिक बल' देता है। नीत्शे का अतिमानव एक सच्चा बुर्जुआ सार्वभौम (sovereign) है जो कि पूर्ण रूप से यथार्थवादी है। वह जानता है कि पूँजीवादी लूट और शोषण की व्यवस्था के साथ सार्वभौमता की जिस अवधारणा की ज़रूरत है, वह वास्तव में उबरमेश की अवधारणा ही हो सकती है, जोकि शुद्ध रूप से 'शक्ति की इच्छा' पर आधारित हो और नैतिकता, मानवतावाद आदि के बन्धनों से पूर्ण रूप से मुक्त हो। यह अनायास नहीं है कि नीत्शे का दर्शन एक ओर हिटलर, नात्सी पार्टी और फासीवादियों के लिए प्रेरणा स्रोत बना और वही अमेरिकी सामाजिक डार्विनवादी आयन रैंड के लिए भी प्रेरणा स्रोत बना। और यह भी अनायास नहीं है कि नीत्शे उत्तरआधुनिकतावादियों और नव-व्यवहारवादियों (जैसे कि रॉटी) के लिए भी प्रेरणा स्रोत बना। यहाँ बता दें कि रिचर्ड रॉटी ने लिखा है कि जॉन ड्यूई जैसे व्यवहारवादियों और उत्तरआधुनिकतावादियों में काफ़ी कुछ समानताएँ हैं। सम्भवतः उनका इशारा कारणात्मकता के निषेध की ओर है, जो कि ड्यूई और उत्तरआधुनिकतावादियों को एक मंच पर ला देता है। अगर ऐसा ही है तो मानना होगा कि इस कारणात्मकता के निषेध का मूल कहीं न कहीं नीत्शे में है।

नीत्शे का पूँजीवादी उबरमेश, कार्ल शिमट का पूँजीवादी सार्वभौम और पूँजीवादी सुपरहीरो

नीत्शे के दर्शन से प्रभावित एक अन्य दार्शनिक कार्ल शिमट की सार्वभौमिकता की धारणा एक प्रकार से नीत्शे के प्रतिक्रियावादी दर्शन को विस्तार देती है। गौरतलब है कि कार्ल शिमट स्वयं नात्सी पार्टी का सक्रिय सदस्य रह चुका था। वह नात्सियों द्वारा किताबों को जलाने और यहूदी-विरोध में शामिल रहा था और नात्सियों द्वारा उसे बर्लिन विश्वविद्यालय में शिक्षक पद सौंपा गया था। शिमट ने सार्वभौमता की अपनी अवधारणा रची ही इसलिए थी कि फ्यूहरर के कल्ट और नात्सियों के शासन के लिए एक वैधता प्रदान करने वाला सिद्धान्त रचा जा सके। शिमट के अनुसार सार्वभौम सही मायनों में वह होता है जो अपवादस्वरूप स्थिति का निर्णय लेता है। सार्वभौम जो निर्णय लेता है वह तर्क, सहीपन/ग़लतपन और परम्परा से स्वायत्त होता है। वह निर्णय सिर्फ़ इसलिए सही होता है क्योंकि उसे लिया गया होता है। इस रूप में सार्वभौम वह होता है जिसका निर्णय निरपेक्ष और स्वायत्त होता है और इसे तर्कों, नियमों या कानूनों से वैधता प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। गौरतलब है कि एक प्रमुख नात्सी नेता ने एक बार कहा था, "हमारा आन्दोलन तर्कों के बल पर नहीं खड़ा हुआ है और इसलिए इसे तर्कों के बल पर नहीं हराया जा सकता है।" बहरहाल, शिमट के लिए सार्वभौम वास्तव में वह होता है जो कि यह तय करता है कि कब राज्यसत्ता के सामान्य प्रचालन को

रद्द कर एक अपवादस्वरूप या आपात स्थिति की घोषणा कर दी जाय। वह कानूनसम्मत राज्य व्यवस्था के भीतर भी होता है लेकिन उससे बाहर भी हो सकता है, ठीक इसीलिए कि इस कानूनसम्मत राज्य व्यवस्था के प्रचालन को बचाया जा सके। सार्वभौम के लिए नैतिकता के बन्धनों से मुक्त होना अनिवार्य होता है क्योंकि इसके बिना वह मुक्त रूप से अपवादस्वरूप स्थिति पर निर्णय नहीं ले सकता है। यानी, सही मायने में एक बुर्जुआ तानाशाही, या कहें कि बुर्जुआ शासन का अन्तिम यथार्थ वही है जिसे शिमट सार्वभौम बोलते हैं। यह अनायास नहीं है कि कार्ल शिमट और नीत्सो जैसे प्रतिक्रियावादी, मानवतावाद-विरोधी, जनवाद-विरोधी दार्शनिक तमाम प्रतिक्रियावादी आन्दोलनों के प्रेरणास्रोत रहे हैं। और यह भी कोई इत्तेफ़ाक नहीं है कि मौजूदा दौर की सुपरहीरो फिल्मों पर भी शिमट और नीत्सो जैसे प्रतिक्रियावादी दार्शनिकों के चिन्तन का गहरा असर है।

अमेरिकी कॉमिक्स जगत में सुपरहीरो का अवतरण : महामन्दी की एक सांस्कृतिक अभिव्यक्ति

सुपरहीरो फिल्मों या कॉमिक्स की जो शैली है उसका आम तौर पर एक तत्व यह माना गया है कि सुपरहीरो चरित्र चाहे यथास्थितिवादी हों या फिर अराजकतावादी, वे आम तौर पर जनता की पहलकदमी या उनके द्वारा हाथ में ली जा सकने वाली गतिविधि के एक स्थानापन्न के तौर पर प्रकट होते हैं। ख़राब हालात को बदलने की इच्छा की एक फ़ैण्टास्टिक पूर्ति की जाती है जिसमें एक अतिमानव तमाम समस्याओं का समाधान कर देता है। चाहे हम 1930 के दशक में सुपरहीरो कॉमिक्स की शुरुआत के दौर को लें, शीत युद्ध के दौर पर विचार करें या फिर हम 1970 के दशक से ढाँचागत संकट के शिकार नवउदारवादी पूँजीवाद के दौर की बात करें, हर-हमेशा सुपरहीरो यथार्थ में उपस्थित गम्भीर आर्थिक व सामाजिक समस्याओं का एक काल्पनिक समाधान उपस्थित करते हैं। इन गल्पकथाओं में आम तौर पर जन समुदाय अनुपस्थित होते हैं, या फिर प्रकट होते हैं तो भी डरे हुए, खुश, दुखी या प्रसन्न मगर निष्क्रिय तमाशबीन के तौर पर। उनकी सामूहिक पहलकदमी और सक्रियता का स्थान एक अतिमानव की शक्ति और सक्रियता ले लेती है।

ये अतिमानव, कुछ अपवादों को छोड़ दें, तो कुलीन और धनी पृष्ठभूमि से आते हैं। कारण समझा जा सकता है। केवल ऐसे धनकुबेर ही जीवन की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने के सिरदर्द के बिना जनता की सुरक्षा, गुण्डों की पिटाई, रात में लबादा लपेटकर घूमने जैसे कामों को अंजाम दे सकते हैं, जैसे कि बैटमैन उर्फ़ ब्रूस वेन, आयरनमैन उर्फ़ टोनी स्टार्क, आदि। याद करें, नीत्सो का उबरमेश उत्पादन करने और यहाँ तक कि शासन करने के श्रम से पूर्ण रूप से मुक्त होता है। हालाँकि इसके कुछ अपवाद भी हैं, जैसे कि स्पाइडरमैन जो कि एक मध्यवर्गीय युवा है, मगर अपवाद नियम को ही पुष्ट करते हैं। सुपरमैन की बात ही अलग है क्योंकि उसे खाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, लेकिन एक दूसरे रूप में यह भी उबरमेश होने की शर्त को ही पूरा करता है! किसी मेहनतकश को सुपरहीरो के तौर पर स्थापित कर पाना थोड़ा मुश्किल काम है। ऐसा करने का प्रयास एक दौर में हुआ था, लेकिन वे सुपरहीरो ज़्यादा दिन ज़िन्दा नहीं रह पाये! प्रत्यक्षतः, ऐसे ही अतिमानव (सुपरमैन) जीवित रह सकते हैं, जिनके सामने खाने-पीने, जीने आदि की भौतिक समस्याएँ मौजूद न हों। तभी तो वे अपना सारा समय 1930 से 1970 तक के दशक के दौर में आम तौर पर ग़रीब और

कमज़ोर तबकों की रक्षा में लगाते थे और 1970 के दशक की शुरुआत से ही अपना ज़्यादा समय वे अमेरिकी साम्राज्यवादी हितों की सेवा में लगाने लगे।

सुपरहीरो मूलतः अमेरिकी कॉमिक्स साहित्य में अस्तित्व में आये। उससे पहले बेहद चालाक और ताक़तवर नायकों का चलन अमेरिकी पल्प साहित्य में मौजूद था। यूरोप में भी ऐसे चरित्र पल्प साहित्य और कई बारे तुलनात्मक रूप से उच्चतर स्तर के साहित्य में भी मौजूद थे। मगर उनका चित्रण उतने नग्न व्यक्तिवादी किस्म का नहीं था जितना कि अमेरिकी कॉमिक्स व पल्प साहित्य में। इसका कारण अमेरिकी समाज के एक पूँजीवादी समाज के तौर पर ही अस्तित्व में आने में और शुरु से ही एक प्रगतिशील व्यक्तिवाद और व्यवहारवाद के अमेरिकी सामाजिक जीवन की वर्चस्वकारी विचारधारा के रूप में स्थापित हो जाने के रूप में देखा जा सकता है। स्पष्ट है कि यह प्रगतिशील व्यक्तिवाद 1870 के दशक के बाद से, अमेरिकी पूँजीवाद के इज़ारेदारी के दौर में प्रवेश की शुरुआत के बाद से, उतना प्रगतिशील नहीं रह पाया और कालान्तर में यह रुग्ण किस्म के सामाजिक डार्विनवाद में तब्दील हो गया। बहरहाल, 1930 के दशक की शुरुआत में पहले सुपरहीरो चरित्रों का निर्माण हुआ। इनका भी एक इतिहास है और हर सांस्कृतिक उत्पाद की तरह इन चरित्रों पर भी इनके सामाजिक-आर्थिक सन्दर्भ की स्पष्ट छाप रही है।

जेरी सीगल और जो शुस्टर नाम के दो युवाओं ने अमेरिका में 1932 में सुपरमैन का चरित्र रचा। उन्होंने सुपरमैन की कॉमिक स्ट्रिप तैयार करके कई अख़बारों में भेजी लेकिन उसे स्वीकार नहीं किया गया। 1938 में कॉमिक बुक का उदय हुआ। इसका एक कारण यह था कि न्यूयॉर्क में मुद्रकों के पास अतिरिक्त बेकार कागज़ बच जाता था और इसके इस्तेमाल के लिए कॉमिक्स निकालने की शुरुआत हुई। 1938 में इन दोनों युवाओं ने सुपरमैन के चरित्र के उपयोग के अधिकार नेशनल कॉमिक्स को बेच दिये, जो कि आगे चलकर डीसी कॉमिक्स बना। 1939 तक सुपरमैन कॉमिक्स की 9 लाख प्रतियाँ बिक चुकी थीं। बच्चों और यहाँ तक कि युवाओं के बीच यह काफ़ी लोकप्रिय हो रही थी। अभी सुपरमैन के पास ईश्वर जैसी शक्तियाँ नहीं थीं। सुपरमैन के दुश्मन ज़्यादातर अमीर वर्ग के विलेन थे। सुपरमैन ग़रीबों का रक्षक था और उनके लिए लड़ता था। उस दौर में सुपरमैन का ऐसा रूप और रवैया होने के कारण उस दौर की स्थितियों में निहित हैं। अमेरिका अभी पूरी तरह से महामन्दी से उबरा नहीं था। बेरोज़गारी और ग़रीबी की हालत अभी भी गम्भीर थी। रूज़वेल्ट के 'न्यू डील' का अमेरिका साक्षी बन चुका था। कीन्सीय कल्याणवाद अमेरिकी पूँजीवादी राज्यसत्ता के प्रभुत्वशील विचारधारा बन चुका था। इसका एक कारण यह भी था कि सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण के साथ ग़रीबी, बेरोज़गारी और वेश्यावृत्ति के उन्मूलन के साथ समाजवाद के प्रभाव को रोकने के लिए कीन्सीय कल्याणवाद को अपनाया अमेरिकी पूँजीवाद के लिए ज़रूरी हो गया था। प्रगतिशील राजनीति और मज़दूर आन्दोलन अमेरिका में इस समय ताक़तवर था और युवा तबका आम तौर पर इसकी ओर आकृष्ट था। सुपरमैन के धनिक-विरोध को उस दौर में कई लोगों ने वामपंथी सहानुभूति मानकर भला-बुरा भी कहा था, हालाँकि सुपरमैन की फन्तासी में कुछ भी वामपंथी नहीं था। जो था उसे ज़्यादा से ज़्यादा वही टुटपूँजिया लोकरंजकता कहा जा सकता था, जिसकी रुझान 1890 के दशक से ही अमेरिकी समाज में पॉप्युलिस्ट पार्टी की प्रवृत्ति के तौर पर मौजूद थी। यह इज़ारेदार पूँजीवाद में संक्रमण के दौर में असुरक्षित होते और सर्वहाराकरण का ख़तरा झेलते टुटपूँजिया वर्गों का आन्दोलन था और

इसी आन्दोलन ने जॉन ड्यूई-मार्का व्यवहारवाद को भी जन्म दिया था। यह पूरी सामाजिक तस्वीर सुपरमैन की कल्पना में भी प्रतिबिम्बित हो रही थी।

बैटमैन का चरित्र भी 1938 में ही प्रकट हुआ। जैसा कि हम इंगित कर चुके हैं, यह महामन्दी का दौर था। सामाजिक मनोविज्ञान में पलायनवादी सुपरहीरो गल्पकथाओं के स्वीकृत होने का मज़बूत आधार मौजूद था और लोग इस प्रकार की फन्तासी की माँग कर रहे थे। और यह माँग पूरी भी की गयी—ऐसा महानायक जो कि बिना किसी देरी के, द्रुत प्रक्रिया के साथ हिंस्र न्याय को अंजाम देता है। 1930 के दशक के अन्त से इन प्रकार के कॉमिक चरित्रों के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया शुरू हुई और एक के बाद एक दर्जनों सुपरहीरो चरित्र आये, हालाँकि उसमें से कुछ ही सफल हो सके। इसमें विशेष तौर पर सुपरमैन, बैटमैन और 1942 में अस्तित्व में आये चरित्र वण्डरवुमन को गिना जा सकता है।

वण्डरवुमन की रचना करने वाले विलियम एम. मॉर्सटन काफ़ी शिक्षित व्यक्ति थे और उन्होंने झूठ पकड़ने वाली मशीन का आविष्कार भी किया था। उन पर एक विशेष प्रकार के नारीवाद का असर था। उनका मानना था कि मानव जाति का भविष्य काफ़ी हद तक सशक्त स्त्रियों पर निर्भर करता है। वे ही मानव जाति को युद्ध, हिंसा और विनाश से बचा सकती हैं और इसके लिए उदार प्राधिकारसम्पन्न स्त्री के समक्ष समर्पण ही एकमात्र रास्ता है। इसमें रास्ते में भविष्य के लिए कुछ अच्छी उम्मीद की जा सकती है।

ये तीनों प्रमुख सुपरहीरो चरित्र आगे भी चलन में बने रहे। पहले कॉमिक्स में और फिर फिल्मों में भी ये चरित्र सामने आये। इसके बाद ग्रीन लैण्टर्न, फ्लैश आदि जैसे कई चरित्र डीसी कॉमिक्स द्वारा बाज़ार में उतारे गये। इसी बीच 1939 में मार्वल कॉमिक्स के रूप में डीसी कॉमिक्स का एक प्रतिद्वन्दी भी बाज़ार में उतरा। 1940 में जैक किर्बी व जो साइमन द्वारा रचे गये चरित्र कैप्टन अमेरिका को मार्वल कॉमिक्स ने लांच किया। कैप्टन अमेरिका बाद में अमेरिका का सबसे लोकप्रिय युद्धकालीन चरित्र बना। इसे रचने वाले दोनों कलाकार ग़रीब यहूदी परिवारों से आते थे और उनके बीच नात्सियों के खिलाफ़ गहरी नफरत थी। इन्होंने अपने चरित्र कैप्टन अमेरिका को अमेरिकी जनवाद और स्वतन्त्रता के मसीहा के तौर पर दिखलाया और एक कॉमिक्स में कैप्टन अमेरिका को हिटलर की पिटाई करते हुए दिखलाया गया। इस कॉमिक्स को स्पष्टतः नात्सी-विरोधी कॉमिक्स की श्रेणी में रखा जा सकता था। इसका एक प्रमाण यह भी है कि अमेरिकी नात्सियों और दक्षिणपंथियों ने इस कॉमिक्स के प्रकाशन के बाद ढेर सारे हेट मेल मार्वल कॉमिक्स को भेजे! गौरतलब बात है कि कैप्टन अमेरिका की कॉमिक्स में नात्सियों के खिलाफ़ संघर्ष की बात तब की जा रही थी जब कि अमेरिका अभी युद्ध में सक्रिय भागीदारी करने नहीं उतरा था और युद्ध से दूरी बनाकर इन्तज़ार करने की नीति अमेरिकी साम्राज्यवाद की प्रमुख नीति बनी हुई थी। चूँकि सोवियत रूस नात्सी जर्मनी को वास्तविकता में हरा रहा था और अमेरिकी वास्तव में नात्सीवाद के खिलाफ़ कुछ नहीं कर पा रहे थे, इसलिए उन्होंने कॉमिक्स में ही हिटलर की पिटाई कर दी।

युद्ध में अमेरिका के शामिल होने के बाद कॉमिक्स जगत को एक नयी बिकाऊ विषयवस्तु मिल गयी। इस दौर में कई नये सुपरहीरो आये। ये सुपरहीरो पहले के सुपरहीरोज़ से अलग थे। जो सुपरहीरो पहले से अस्तित्वमान थे उनके चरित्र में भी परिवर्तन आया। अब सुपरहीरो समाज में मौजूद अन्याय और ग़ैर-बराबरी से लड़ने वाले या फिर ग़रीबों के रखवाले की भूमिका निभाने वाले सुपरहीरो नहीं थे। ये नये सुपरहीरो अमेरिकी सरकार के सिपाही के

समान थे। इस दौर में इन कॉमिक्स में धुरी शक्तियों (जर्मनी, इटली व जापान) के खिलाफ़ ज़बर्दस्त राष्ट्रवादी प्रोपगैण्डा होता था। जब द्वितीय विश्वयुद्ध ख़त्म हुआ तो तात्कालिक तौर पर कॉमिक्स जगत में एक निर्वात जैसा पैदा हो गया। इस निर्वात को कॉमिक्स जगत में एक भोंड़े किस्म के हास्य ने भरा। सुपरमैन, बैटमैन व वण्डरवुमन के कॉमिक्स में भोंड़े हास्य और व्यंग्य की भरमार हो गयी। कई बार इस हास्य और व्यंग्य का निशाना स्वयं ये सुपरहीरोज़ होते थे। इसी दौर में, अमेरिका में कुछ अध्ययन हुए (जिसमें से कुछ फ़र्जी थे, जैसे कि फ्रैंकफर्ट स्कूल से प्रभावित एक बुद्धिजीवी फ्रेडरिक वर्थेम का अध्ययन) जिसमें अमेरिकी समाज पर सुपरहीरो कॉमिक्स के प्रभाव का मूल्यांकन किया गया। इसमें इस बात का भय जताया गया कि ये कॉमिक्स वास्तव में अमेरिकी समाज पर पतनशील प्रभाव छोड़ रहे हैं। इन कॉमिक्स पर समलैंगिक इराटिसिज़्म (जैसे कि बैटमैन और रॉबिन के सम्बन्धों में मौजूद संकेत), हिंसा और अपराध को बढ़ावा देने का आरोप लगाया गया। इसके साथ ही कॉमिक्स को लेकर सामाजिक, यौनिक व मनोवैज्ञानिक पतन का एक भय पैदा हुआ। नतीजतन कॉमिक्स निर्माताओं ने एक 'कॉमिक कोड अथॉरिटी' का निर्माण किया। इसके साथ हिंसा, अपराध आदि के चित्रण पर तमाम किस्म के विनियमन लागू कर दिये गये। इन विनियमनों ने और साथ ही 1950 के दशक का अन्त आते-आते शीत युद्ध के रफ़्तार पकड़ने के साथ सुपरहीरोज़ की दुनिया में भी परिवर्तन आये।

1961 में जैक किर्बी और स्टैन ली ने मिलकर मार्वल कॉमिक्स (जो अब तक टाइमली कॉमिक्स के नाम से जाना जाता था) के लिए 'दि फ़ैण्टास्टिक फोर' के सुपरहीरोज़ का निर्माण किया। ये सुपरहीरो आदर्श आद्यरूप जैसे नहीं थे, जैसे कि सुपरमैन। इनमें तमाम कमियाँ थीं। ये आपस में लड़ते थे। एक अंक में तो ये सुपरहीरो ही दिवालिया हो गये थे। इस तरह से अब नंगी हिंसा और रक्तपात की कमी को पूरा करने और कॉमिक्स को दुबारा "दिलचस्प" बनाने के लिए कुछ आपसी अन्तरविरोध और यथार्थवाद का तत्व डाला गया। 'दि फ़ैण्टास्टिक फोर' के साथ मार्वल कॉमिक्स का स्वर्ण युग शुरू हुआ। मार्वल ने हल्क, थोर, स्पाइडरमैन, आयरनमैन, अवेंजर्स, एक्स-मेन, सार्जेंट फ्यूरी व ब्लैक विडो जैसे कई सुपरहीरो चरित्रों की शुरुआत की और ये सभी ख़ासे कामयाब भी रहे। यह प्रक्रिया 1964 में डेयरडेविल नामक चरित्र के आने के साथ मुकाम पर पहुँची। आप कह सकते हैं कि ये सारे सुपरहीरो शीत युद्ध, कम्युनिज़्म-विरोध, क्यूबा-विरोध, चीन व उत्तरी कोरिया के विरोध की पैदावार थे। इसकी एक निशानी यह है कि इनमें से ज़्यादातर सुपरहीरोज़ की महाशक्तियाँ परमाणु विकिरण से पैदा हुई थीं। जैसा कि हम जानते हैं कि परमाणु शस्त्रों की होड़ शीत-युद्ध के दौर में अमेरिकी साम्राज्यवाद और सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद के बीच प्रतिस्पर्द्धा की एक अहम ख़ासियत थी। अमेरिका परमाणु शस्त्रों का प्रयोग करने वाला एकमात्र देश था और इस रूप में अपनी परमाणु क्षमता का साम्राज्यवादी प्रदर्शन वह सुपरहीरोज़ की फ़ैण्टास्टिक दुनिया में भी करता था। 'दि फ़ैण्टास्टिक फोर' अन्तरिक्ष में 'कम्युनिस्टों' से लड़ते हुए विकिरण का शिकार बने थे; पीटर पार्कर को एक रेडियोएक्टिव मकड़ों ने काटा था; डेयरडेविल का मैट मर्डक रेडियोएक्टिविटी के कारण अन्धा होकर डेयरडेविल बना था; ब्रूस बैनर गामा विकिरण का शिकार होकर हल्क बनता है और एक्स-मेन द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर परमाणु विकिरणों से पैदा हुए म्यूटेशन के कारण म्यूटेण्ट बनते हैं। इस पूरी चीज़ से आप अमेरिकी जनमानस और सामाजिक मनोविज्ञान को समझ सकते हैं और

साथ ही अमेरिकी साम्राज्यवाद की सांस्कृतिक प्रणालियों की भी एक झलक पा सकते हैं। यह अनायास ही नहीं कहा जाता कि व्यवहारवाद अमेरिकी समाज का वर्चस्वकारी दर्शन है जिसका नारा है—‘व्हाटेवर वर्स!’

अब आप इन सारे सुपरहीरो के खलनायकों पर एक निगाह डालें तो शीतयुद्धकालीन वैश्विक राजनीति के कॉमिक्स के दुनिया में प्रविष्टि को और स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। मिसाल के तौर पर आयरनमैन का शुरुआती दुश्मन उत्तरी वियतनाम का एक कम्युनिस्ट जनरल था जो कि शैतानियत की पराकाष्ठा को दर्शाता था! आयरनमैन का ही एक अन्य प्रमुख खलनायक है मैण्डारिन, जो कि एक बेहद भद्दे स्टीरियोटिपिकल तरीके से बनाया गया एक चीनी चरित्र है। उसी प्रकार इन कॉमिक्स में फिदेल कास्ट्रो, खुश्चेव, और माओ के कैरीकेचर सामान्य रूप से देखे जा सकते थे। सुपरहीरो कॉमिक्स स्पष्ट रूप से साम्राज्यवादी प्रचार का एक प्रमुख माध्यम थे।

लेकिन 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में ही अमेरिकी पूँजीवाद अपनी आन्तरिक समस्याओं से भी जूझ रहा था। उसी समय वियतनाम-युद्ध विरोधी शान्ति आन्दोलन, छात्र आन्दोलन, नारीवादी आन्दोलन, काले लोगों का मुक्ति आन्दोलन और नागरिक अधिकार आन्दोलन अपने चरम पर था। अमेरिकी पूँजीवाद के उदार जनवादी राज्य की छवि कठघरे में थी और जनता के व्यापक जनसमुदायों के बीच में उसका वर्चस्व डावाँडोल था। इसी दौर में, सुपरहीरोज़ कॉमिक्स की दुनिया में भी कुछ बदलाव देखे जा सकते हैं। इस दौर में पहली बार कई काले सुपरहीरोज़ अस्तित्व में आते हैं जैसे कि ब्लैक फैल्कन, ल्यूक केज, ब्लैक गोलियथ, पॉवरमैन, ब्लैक पैन्थर आदि। गौरतलब है कि कॉमिक्स में ब्लैक पैन्थर नामक सुपरहीरो असलियत में ब्लैक पैन्थर्स पार्टी बनने के चार महीने पहले ही अस्तित्व में आ गया था। इन सुपरहीरोज़ कॉमिक्स के मुखपृष्ठ पर ही ‘ब्लैक’ शब्द को काफ़ी रेखांकित किया गया होता था। आम तौर पर ये ब्लैक सुपरहीरोज़ किसी अतिधनाढ्य पृष्ठभूमि से नहीं आते थे, क्योंकि ऐसा दिखलाना एकदम यथार्थवादी नहीं होता और लोग इसका मज़ाक बनाते। ये आम तौर पर काले लोगों की पृथक बस्तियों में पैदा हुए नायक थे। इसी दौर में, खलनायक आम तौर पर नस्लवादी, श्रेष्ठतावादी, नात्सी किस्म के लोग होते थे। दूसरी ओर काले सुपरहीरोज़ नस्लीय बराबरी के हिमायती, ड्रग्स-विरोधी होते थे। लेकिन ये ब्लैक सुपरहीरो आम तौर पर लोकल गुण्डों, माफिया आदि से लड़ते थे, जबकि दूसरे ग्रहों से आने वाले दुश्मनों से लड़ने का काम पूरी तरह से श्वेत, पुरुष सुपरहीरोज़ का होता था। स्त्री सुपरहीरोज़ के बारे में भी यही बात दूसरे रूप में कही जा सकती है। उनका काम ‘मेल शॉविनिस्ट पिग्स’ से लड़ना होता था और दुश्मन देशों और दूसरे ग्रहों की महाशक्तियों से लड़ने का काम आम तौर पर श्वेत पुरुष सुपरहीरोज़ का ही होता था। यह राष्ट्रवाद के चरित्र के बारे में भी कई बातें साफ़ करता है। राष्ट्रवादी विचारधारा मूलतः मजदूरों, स्त्रियों, काले लोगों, दलितों आदि के खिलाफ़ जाती है क्योंकि इस संघटन का एक बुनियादी अवयव पितृसत्तावाद होता है। विल्हेल्म राइख़ ने अपनी पुस्तक ‘मास साइकॉलजी ऑफ़ फाशिज़्म’ में प्रदर्शित किया है कि राष्ट्रवाद जैसी विचारधारा हर-हमेशा बुर्जुआ रहस्यवाद, पितृसत्तात्मक चरित्र संरचना और यौनिक दमन पर आधारित होती है। बहरहाल, अभी हम इस पर लम्बी चर्चा नहीं कर सकते हैं।

इसी दौर में एक दूसरे किस्म का पूँजीवादी यथार्थवाद भी कॉमिक्स जगत के सुपरहीरोज़

की कहानियों में आ रहा था। मिसाल के तौर पर, आयरन मैन के एक अंक में आयरन मैन के 'ऑल्टर ईगो' टोनी स्टार्क के कारखाने में मजदूरों की हड़ताल होती है। यह हड़ताल मैण्डारिन नामक एक चीनी खलनायक के भड़काने के कारण हुई थी और चीनी खलनायक ने भड़काने की प्रक्रिया में 'शोषण', 'गैरबराबरी' जैसी राजनीतिक शब्दावली का इस्तेमाल किया था। समझा जा सकता है कि इशारा किसकी तरफ़ था। यह वह दौर था जबकि अमेरिका में कम्युनिस्टों के खिलाफ़ धरपकड़ पूरी तरह समाप्त नहीं हुई थी। कम्युनिज़्म की हावी होती लहर (सांस्कृतिक क्रान्ति, 1968 का वैश्विक छात्र उभार आदि) के भय को अमेरिकी शासक वर्गों में स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता था। मजदूरों के बीच कम्युनिस्ट षड्यन्त्रों की चर्चा ज़ोरों पर थी। उसी समय आयरन मैन का यह अंक भी आया था। लेकिन साथ ही इस अंक में आयरन मैन अपने आपसे पूछता है कि कम्युनिज़्म से उसने अमेरिकी जनवाद की रक्षा तो कर दी, लेकिन यह जनवाद किसका है? यह वियतनाम युद्ध में अमेरिका के कड़वे अनुभव और आसन्न हार की प्रतिक्रिया थी। इसके बाद टोनी स्टार्क शस्त्रों का उत्पादन बन्द कर देता है और पर्यावरणीय सुरक्षा के काम में लग जाता है।

इसी दौर में कैप्टन अमेरिका भी मोहभंग की स्थिति से गुज़र रहा था। इस समय वह एक खानाबदोश बन गया था, एक ऐसा सुपरहीरो जिसका कोई देश नहीं है। गौरतलब है कि कैप्टन अमेरिका के इस अंक के प्रकाशन के कुछ ही समय पहले निक्सन का वॉटरगेट घोटाला सामने आया था। दरअसल, इस अंक में एक खतरनाक अपराधी संगठन के पीछे जो मास्टरमाइण्ड होता है, उसकी शकल निक्सन से काफ़ी मिलती है! बहरहाल, ये जो प्रतीतिगत रैडिकलिज़्म का दौर सुपरहीरो कॉमिक्स में शुरू हुआ था वह 1970 के दशक के अन्त तक समाप्त हो गया। 1980 के दशक में थैचरिज़्म और रीगनॉमिक्स का बोलबाला था और कॉमिक्स की दुनिया में भी मामला दक्षिण की ओर खिसक चुका था। सुपरहीरोज़ फिर से पूरी तरह से शीतयोद्धाओं में तब्दील हो चुके थे। लेकिन अमेरिकी सुपरहीरोज़ इस समय तक अपने स्टीरियोटिपिकल चित्रण के कारण उबाऊ हो चुके थे। हर-हमेशा इन कॉमिक्स कथाओं में अच्छे और बुरे के बीच एक अयथार्थवादी रेखा खींची गयी होती थी। जो अच्छा था वह शुद्ध रूप से अच्छा था और जो बुरा था वह बस बुरा था। लेकिन जब अमेरिकी सुपरहीरो का उबाऊपन की वजह से अन्तःस्फोट हो रहा था, उसी समय ब्रिटेन में कुछ प्रयोग हो रहे थे। लगभग इसी दौर में ब्रिटेन में कुछ अराजकतावादी सुपरहीरो अस्तित्व में आ रहे थे, जो कि व्यवस्था का पोषण या समर्थन नहीं करते थे; वे कानून और व्यवस्था का माखौल बनाते थे और उन्हें दमन का प्रतीक मानते थे। ऐसा एक हीरो था 'वी'। इस हीरो पर अभी कुछ वर्ष पहले ही 'वी फॉर वेण्डेड' फिल्म भी बनी थी। यह हीरो गाय फॉक्स का मुखौटा पहनता है और उसकी पहचान अज्ञात ही रहती है। वह गाय फॉक्स षड्यन्त्र की तरह ही लन्दन की पार्लियामेंट उड़ाने की साज़िश करता है। अब पश्चिमी दुनिया में होने वाले तमाम प्रदर्शनों में गाय फॉक्स का मुखौटा पहनना एक आम चलन हो गया है। कई लोगों का दावा है कि प्रतिरोध ने पॉप संस्कृति को सहयोजित करने का एक उदाहरण पेश किया है। लेकिन मुझे इसमें संशय है। कहीं पॉप संस्कृति ने तो प्रतिरोध को सहयोजित नहीं कर लिया? गौरतलब है कि जब समूचा पूँजीवादी ढाँचा अपनी अनुत्पादकता और मरणासन्नता के चरम पर है तो विकल्प के रूप में गाय फॉक्स के विद्रोह को पेश किया जा रहा है, और इस प्रस्तुति में पहलकदमी सामूहिक या जनता के हाथ में नहीं है, बल्कि एक सुपरहीरो के हाथ में है। ऐसे

में, सही मायने में जनता से विकल्प और विकल्प से अभिकरण छीना जा रहा है। और इसीलिए ऐसे प्रतिरोध के प्रतीक भी मूल्यमुक्त नहीं होते बल्कि तमाम मूल्यों से लदे होते हैं। **सवाल यह है कि वर्चस्वकारी पूँजीवादी संस्कृति प्रतिरोध के किस चित्रण के प्रति सहिष्णु होने को तैयार है?**

खैर, एक अन्य अराजकतावादी सुपरहीरो जो कि ब्रिटेन में अस्तित्व में आया वह था मार्शल लॉ। यह सुपरहीरो अब गद्दार हो चुके सुपरहीरोज़ और उन सुपरहीरोज़ का संहार करता है जो कि पहले सरकार के नियन्त्रण में रहते थे, मगर अब स्वतन्त्र हो गये हैं और उन्होंने अपने गैंग्स बना लिये हैं। मार्शल लॉ जिन तमाम सुपरहीरोज़ का संहार करता है, उनकी शकलें आश्चर्यजनक रूप से बैटमैन, आयरन मैन आदि जैसी है। वह अन्ततः अन्य सुपरहीरोज़ के साथ मिलकर मार्गरेट थैचर का तख़्तापलट करता है, मगर दयाशीलता के साथ। वह थैचर को कोई सज़ा नहीं देता, उन्हें सम्मान के साथ जाने देता है। और उसके बाद वह पूरे पृथ्वी के संचालन को अपने हाथ में ले लेता है। फिर एक नये युग की शुरुआत होती है जो कि ग़रीबी, भूख और युद्ध से मुक्त था।

इसी बीच फ्रैंक मिलर बैटमैन को एक नया स्वरूप देते हैं। उन्हीं के बैटमैन से क्रिस्टोफर नोलन ने अपने बैटमैन की प्रेरणा ली है। यह बैटमैन व्यवस्था के बारे में थोड़ा सशक्त हो चला है। इसी सीरीज़ में सुपरमैन को सत्ता के एक कम समझदार उपकरण के रूप में चित्रित किया गया है जो सत्ता पर कभी प्रश्न नहीं खड़ा करता। वह पूरी तरह से सत्ता से सहमत में रहता है और अमेरिका के साम्राज्यवादी मंसूबों में उसकी मदद करता है। यह 1980 के दशक के अन्त तक की स्थिति थी। इसी बीच सुपरहीरो फिल्मों का नया दौर शुरु हो चुका था। यह दौर 1990 के अन्त तक जारी रहता है। 1997 के एशियन टाइगर संकट और फिर 2000-2001 में हाउसिंग बुलबुले के फटने के साथ वैश्विक पूँजीवाद का संकट गहरा रहा था। 1990 में सोवियत संघ में सामाजिक साम्राज्यवाद के पतन के बाद कम्युनिज़्म के खात्मे का जो उन्मादी शोर मचा था, वह अब संकट से बिलबिला रहे पूँजीवाद की कराहों में तब्दील हो चुका था। 2001 में वर्ल्ड ट्रेड टावर के ध्वंस के बाद अमेरिकी साम्राज्यवाद ने इसे अपने संकट को टालने का एक उपकरण बनाया और 'आतंक विरोधी युद्ध' की शुरुआत की। इसी समय सुपरहीरोज़ के नये दौर की शुरुआत होती है।

इस दौर में अमेरिकी कॉमिक्स के सुपरहीरोज़ में नंगे किस्म का अन्धराष्ट्रवाद देखा जा सकता था। 2001 के हमले के बाद आयी एक मार्वल कॉमिक्स में मार्वल कॉमिक्स के लगभग सभी महाखलनायक इकट्ठा होते हैं और आतंकियों की क्रूरता पर आश्चर्य जताते हुए आँसू बहाते हैं और कहते हैं कि इतने अमानवीय तो वे भी नहीं हो सकते! वे एक प्रकार से आतंकवाद के खिलाफ पूरे अमेरिका की अन्धराष्ट्रवादी एकता का एलान करते हैं! मार्वल ने इसी समय 'कॉम्बैट ज़ोन' नामक एक सीरीज़ निकाली जिसका स्पष्ट मकसद था इराक़ युद्ध का समर्थन करना। इसकी हज़ारों प्रतियाँ इराक़ में अमेरिकी सैनिकों को बाँटवायी गयीं। लेकिन इसी समय अफगानिस्तान और इराक़ में आतंक-विरोधी युद्ध के वांछित परिणाम न मिलने के कारण सुपरहीरोज़ की शक्तियों के प्रति एक सन्देह भी कई सुपरहीरो कॉमिक्स में पेश हो रहा था। और वह 2006 आते-आते तो काफ़ी स्पष्ट रूप में दिखलायी दे रहा था। 2004 में डीसी कॉमिक्स का एक कॉमिक्स आया 'आइडेंटिटी क्राइसिस'। इसमें बैटमैन को डीसी के अन्य हीरोज़ के बारे में तमाम खुफिया जानकारी मिलती है। पाठक को पता चलता है कि इन

सुपरहीरोज़ का ग्वान्तानामो बे, अबू ग़रीब जैसी कुख्यात जेलों से भी नापाक रिश्ता है!

इसके बाद मार्वल कॉमिक्स ने 'अल्टिमेट्स' निकाला जिसके आधार पर नयी अवेन्जर्स फिल्म बनायी गयी। यह कॉमिक्स आतंकवाद के खिलाफ़ एक ऐसे युद्ध की हिमायत करता है जो किसी भी रूप में कानून, नियम या नैतिकता से बाधित न हो। एक ऐसा युद्ध जिसमें कोई भी कदम उठाने की पूरी इजाज़त हो और बिना किसी अपराध-बोध के।

सुपरहीरोज़ पर बनी हुई फिल्में काफ़ी हद तक कॉमिक्स में गढ़े गये सुपरहीरोज़ के चरित्र और कथानक पर ही आधारित होती हैं। कई लोग सुपरहीरो फिल्मों को कम्प्यूटर-जेनेरेटेड इमेजों से भरी हुई बेवकूफी मानते हैं। लेकिन ये फिल्में हमें अमेरिकी समाज और अमेरिकी साम्राज्यवाद के बारे में काफ़ी कुछ बताती हैं। चूँकि इस थीम का स्रोत कॉमिक्स जगत में था, इसलिए हमने कॉमिक्स जगत में सुपरहीरो कहानियों का एक विहगावलोकन किया और इन कहानियों को उनके सामाजिक-आर्थिक सन्दर्भों में रखने का प्रयास किया और यह प्रदर्शित किया कि सुपरहीरो कहानियाँ अपने युग में ही विचारधारात्मक रूप से जड़ित होती हैं। अब हम सुपरहीरो फिल्मों का विश्लेषण बेहतर तरीके से कर सकते हैं, जिसकी निश्चित तौर पर अलग से आवश्यकता है। कारण यह है कि फिल्म विधा एक ऐसी विधा है जो दृश्य-श्रव्य के कहीं उन्नत संयोजन और दिक्-काल के कहीं अधिक लचीलेपन के साथ यह संयोजन करने में सक्षम है। नतीजतन, अवचेतन और अचेतन तक इसकी पहुँच कहीं ज़्यादा है। इसलिए फिल्मों के ज़रिये सुपरहीरोज़ की कहानियाँ रूप और अन्तर्वस्तु के धरातल पर कैसे काम करती हैं, इसका विश्लेषण अलग से किया जाना चाहिए।

काउबॉय वेस्टर्न्स से सुपरहीरो फिल्मों तक : अतीत से वंचित एक पूँजीवादी राष्ट्र के आत्मबोध के आधुनिक मिथक

वैसे तो सुपरहीरो फिल्मों की बनने की शुरुआत 1980 के दशक से ही हो चुकी थी, लेकिन सुपरहीरो फिल्मों का स्वर्ण युग 2000 के पहले दशक के पूर्वार्द्ध से शुरू हुआ है। 2000 के पहले दशक की शुरुआत में एक्स-मेन फिल्म के साथ सुपरहीरो फिल्मों की झड़ती सी लग गयी। इनमें से ज़्यादातर सफल रहीं। इन फिल्मों ने हॉलीवुड में लगभग वही स्थान अपना लिया है, जो कि एक दौर में वेस्टर्न्स फिल्मों का हुआ करता था। उस दौर में काउबॉय चरित्रों वाली ये फिल्में एक प्रकार से अमेरिकी समाज और संस्कृति की पहचान बन गयी थीं। आज सुपरहीरो फिल्में लोगों के मनोरंजन के ज़रिये जो असल कार्य कर रही हैं वह है वैश्विक पुलिसमैन और वैश्विक मुखिया के रूप में अमेरिका की छवि को स्थापित करना और रेखांकित करना। अमेरिका 'मुक्त' विश्व का नेता है! इस रूप में हॉलीवुड हमेशा की तरह एक आधुनिक मिथक निर्माता की अपनी भूमिका अदा कर रहा है। हॉलीवुड अमेरिका के वास्तविक इतिहास पर कोई फिल्म मुश्किल से ही बना सकता है, जो कि मूल अमेरिकी आबादी के कल्ले-आम और सेटलर उपनिवेशवाद का खूनी इतिहास है। दूसरी बात यह है कि अमेरिका का यूरोप के समान कोई सुस्थापित सामन्ती इतिहास भी नहीं है। अमेरिका के इतिहास में जो चीज़ें सराहनीय थीं, वह पहली और दूसरी अमेरिकी क्रान्ति के दौरान कम-से-कम बुर्जुआ औपचारिकता के स्तर पर रखे गये समानता, भ्रातृत्व और जनवाद के विचार थे। लेकिन अमेरिकी पूँजीवाद के विकास के विशिष्ट पथ के कारण जनवाद या समानता से भी ज़्यादा अमेरिकी समाज और संस्कृति में व्यक्तिवाद और व्यवहारवाद के मूल्यों

को महिमा-मण्डित किया गया। यही सोच वेस्टर्न्स में भी स्पष्ट तौर पर उभर कर सामने आती थी। हॉलीवुड ने इन्हीं मूल्यों के अनुसार आधुनिक मिथक रचे क्योंकि अमेरिका के पास यूरोप के समान यूनानी-रोमन प्राचीन सभ्यता या सामन्तवाद का कोई इतिहास नहीं था, जिनसे कोई सिरा पकड़कर ये मिथक रचे जाते। इस रूप में हॉलीवुड एक ऐसे राष्ट्र के लिए एक आधुनिक मिथक निर्माता रहा है, जिसके पास कोई लम्बा अतीत नहीं है।

बीसवीं सदी की शुरुआत से लेकर 1950 के दशक तक हॉलीवुड ने अमेरिका और अमेरिकियों के लिए एक पहचान का निर्माण किया और यह पहचान काफी लोकप्रिय भी हुई। यह था काउबॉय चरित्रों पर आधारित वेस्टर्न्स फिल्मों। काउबॉय एक ऐसा चरित्र था जो उस पश्चिमी सीमान्त की वन्यता और अज्ञात खतरों द्वारा निर्मित हुआ था, जिसके पार अमेरिकी औपनिवेशिकीकरण नहीं हुआ था या सुदृढ़ नहीं हुआ था। हालाँकि 19वीं सदी का अन्त आते-आते संयुक्त राज्य अमेरिका के लगभग सभी प्रदेश श्वेत औपनिवेशिकीकरण के मातहत आ चुके थे। लेकिन फिर भी पश्चिमी सीमान्त की वह स्मृति (जो कि काफी हद तक बनायी गयी थी) अभी भी अमेरिकी पहचान का निर्माण कर रही थी। काउबॉय पश्चिमी सीमान्त के पार के व्यापक विस्तार के साथ जूझता था जो कि अविजित और अनजान था। इन फिल्मों का अन्तहीन रास्तों, अनन्त विस्तार और मुश्किल वातावरण का प्रभावी मोटिफ़ वास्तव में अमेरिकी पूँजीवादी सभ्यता के विस्तार की अन्तहीन सम्भावना का प्रतीक था, जिसके अगुवा प्रतीक तत्व के रूप में काउबॉय का चरित्र खड़ा किया गया था। काउबॉय एक प्रकार से उस जोखिम लेने की, उद्यमी और प्रतिस्पर्द्धात्मक संस्कृति का विशिष्ट प्रतीक बन गया जो कि अमेरिकी राष्ट्र की स्थापना से ही उसकी खासियत थी। यह संस्कृति व्यक्तिवाद और व्यवहारवाद के मूल्यों से लदी हुई थी। काउबॉय फिल्मों इसी संस्कृति को बीसवीं सदी के पहले छह-सात दशकों तक पेश कर रही थीं। इस फिल्मों में काउबॉय चरित्र अमेरिकी पूँजीवादी मूल्यों के वाहक थे; लम्बे और खाली भूभाग और अन्तहीन प्रतीत होता विस्तार अमेरिकी साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के लिए विस्तार की अनन्त सम्भावना-सम्पन्नता के प्रतीक थे; यह विस्तार ऐसा था जिसमें कानून और नियमों की बाधा नहीं थी, जैसा कि यूरोप के सामने पेश आयी थी; यहाँ कानूनी, नियम और नौकरशाही की बेड़ियों से मुक्त काउबॉय द्रुत और हिंस्र न्याय करता था; इस पूरे वातावरण में मूल अमेरिकी आबादी अपराधी या डकैत तत्व का प्रतिनिधित्व करती थी या फिर कमजोर पीड़ित का; साथ ही, कुछ बुरे श्वेत खलनायक भी होते थे। दूसरी ओर एक ऐसा नायक होता था जो कि कमियों-खामियों से परे नहीं होता था (अमेरिकी पूँजीवादी यथार्थवाद) लेकिन साथ ही वह कर्तव्य, सम्मान, नैतिकता और आचार संहिताओं से संचालित होता था (अमेरिकी व्यक्तिवादी आध्यात्मिकता) और वह इन बदमाशों (आज के 'दुष्ट राज्य') के साथ तत्काल मौके पर न्याय किया करते थे।

वियतनाम युद्ध में अमेरिका की पराजय अमेरिकी अपवाद-वाद (exceptionalism) पर एक गहरी चोट थी। शीत युद्ध के दौरान सोवियत साम्राज्यवाद और अमेरिकी साम्राज्यवाद की प्रतिस्पर्द्धा में अन्तरिक्ष अनुसन्धान और शस्त्रों की होड़ में भी शुरुआती दौर में अमेरिका का पिछड़ना अमेरिका के लिए एक सदमे जैसा अनुभव था। उससे पहले कोरिया युद्ध में पराजय और क्यूबा की क्रान्ति ने भी अमेरिकी साम्राज्यवादी दम्भ और आत्मविश्वास पर गहरी चोट की थी। इस दौर में अमेरिकी पूँजीवादी राष्ट्र की असुरक्षाओं और आकांक्षाओं को नये रूप में हॉलीवुड की फिल्मों में फ़ैण्टास्टिक अभिव्यक्ति मिली। वेस्टर्न्स का स्थान 1960 के दशक के

अन्त और 1970 के दशक की शुरुआत से धीरे-धीरे विज्ञान-सम्बन्धी गल्पकथाओं ने लेना शुरू कर दिया। 1980 के दशक की शुरुआत से विज्ञान गल्पकथाओं के साथ-साथ सुपरहीरो फिल्मों की शुरुआत होती है। 1980 के दशक से लेकर 1990 के दशक के अन्त तक बहुत-सी सुपरहीरो फिल्में बनीं। लेकिन अभी उनके दृश्य विधान, विन्यास और चरित्रों के रूप-रंग पर कॉमिक्स शैली का प्रभाव स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता था। कह सकते हैं कि सुपरहीरो फिल्मों का स्वर्ण युग 2000 के पहले दशक से ही शुरू होता है और उसमें भी 2006-7 में ढाँचागत साम्राज्यवादी संकट के फूटने के बाद से इनमें ज़बर्दस्त बढ़ोत्तरी आयी है। एक बार फिर अमेरिकी साम्राज्यवाद का संकट खतरनाक अनुपातों में जा रहा है। मध्य-पूर्व में इराक़ पर हमला कर अपने लिए अनुकूल सरकार बिठाने की अमेरिकी योजना धरी की धरी रह गयी; अमेरिका को इराक़ से एक प्रकार से मुँहकी खाकर भागना पड़ा और इराक़ में आज एक ऐसी सरकार है जिसकी करीबी मध्यपूर्व में अमेरिकी साम्राज्यवादी धुरी के बजाय ईरान, सीरिया और रूस के साथ बन रही है। अमेरिकी धुरी (इज़रायल-सऊदी अरब-अमेरिका) यमन से लेकर सीरिया तक में काफ़ी कमज़ोर स्थिति में है। सीरिया युद्ध के अन्त में भी कोई अमेरिकी धुरी समर्थक सत्ता वहाँ आयेगी, इसकी उम्मीद नगण्य है। दूसरी तरफ़ ईरान के समक्ष परमाणु ऊर्जा के प्रश्न पर अमेरिका ने घुटने टेके हैं और मध्य-पूर्व में रूस के ज़्यादा हस्तक्षेपकारी होने के साथ अमेरिकी साम्राज्यवाद की पहले से कमज़ोर स्थिति और कमज़ोर हुई है। अमेरिकी साम्राज्यवादी अहं और अपवादवाद पर एक बार फिर से भारी चोटें पड़ रही हैं। अफ़गानिस्तान में पहले तालिबान को खड़ा करना, फिर उसके भस्मासुर बन जाने के बाद उससे युद्ध करना, फिर युद्ध न जीत पाने की सूरत में 'अच्छे' तालिबान और 'बुरे' तालिबान का जुमला उछालकर तालिबान से हाथ मिलाने का प्रयास करना—ये सभी अमेरिकी साम्राज्यवाद के बढ़ते खोखलेपन की ओर इशारा कर रहे हैं। वहीं दूसरी ओर, अमेरिका के आर्थिक वर्चस्व को भी निर्णायक चुनौतियाँ मिल रही हैं और चीन और रूस दोनों ही अपने आपको भविष्य के विश्व के चौधरियों के रूप में देख रहे हैं। ऐसे में, अमेरिकी साम्राज्यवाद और अमेरिकी पूँजीवादी राष्ट्र के भय, असुरक्षाएँ और आकांक्षाएँ एक बार फिर से एक नये रूप में अभिव्यक्ति पा रहे हैं—सुपरहीरो फिल्मों के रूप में।

सुपरहीरो फिल्मों के स्वर्ण-युग की शुरुआत : सर्वाधिक संरचनागत पूँजीवादी संकट के दौर की साम्राज्यवादी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति

सुपरहीरो फिल्मों का नया दौर एक्स मेन के साथ 2000 के पहले दशक के शुरू में प्रारम्भ होता है और यह 'अवेन्जर्स' फिल्म श्रृंखला के साथ अपने शिखर पर पहुँचता है। 2000 के बाद से हॉलीवुड ने 50 से भी ज़्यादा सुपरहीरो फिल्में बनायी हैं। इनमें से ज़्यादातर ने अद्वितीय कारोबारी सफलता हासिल की है। इस नये दौर में आयी सुपरहीरो फिल्मों की आमूलगामी आलोचना की ज़रूरत जल्द ही महसूस की जाने लगी थी और जल्द ही तमाम सांस्कृतिक आलोचकों ने इस प्रवृत्ति की आलोचनाएँ पेश कीं। जिज्ञेक से लेकर जेम्सन तक, तमाम बड़े चिन्तकों ने भी इन फिल्मों की आलोचना में उल्लेखनीय योगदान किया। डैन हैसलर फॉरेस्ट ने इस रुझान पर एक पूरी पुस्तक लिखी। फॉरेस्ट लिखते हैं कि आधुनिक सुपरहीरो फिल्में वस्तुतः नवउदारवादी पूँजीवाद के "तमाम अन्तरविरोधों, फन्तासियों और घबराहटों की कुछ सबसे स्पष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं।" फॉरेस्ट के इस मूल्यांकन से सहमत हुए बिना नहीं रहा जा सकता, "सुपरहीरो फिल्में अक्सर ऐसे अनैतिहासिक, पितृसत्तात्मक और विश्व-के-अन्त-वाली

आपदाओं/आतंकवाद के आख्यान होती हैं जो यह दावा करती हैं कि नवउदारवादी पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं है।” जिज़ेक ने ठीक ही कहा है कि हर दूसरी हॉलीवुड फिल्म दुनिया के विनाश के बारे में होती है; दुनिया के विनाश की कल्पना को सहज और सामान्य बना दिया गया है, लेकिन पूँजीवाद के विनाश की कल्पना की आज्ञा नहीं दी जा सकती।

यहाँ हम तीन प्रमुख सुपरहीरो फिल्मों के बारे में संक्षेप में अपने विचार रखेंगे, जिन्हें हम सुपरहीरो फिल्मों की शैली की तीन प्रातिनिधिक फिल्में कह सकते हैं। इन फिल्मों के आलोचनात्मक विवेचन के दौरान ही हम देखेंगे कि किस प्रकार नीत्सो के उबरमेंश का सिद्धान्त और कार्ल श्मिट के सार्वभौम का सिद्धान्त इन फिल्मों के रूप में अशुद्ध सांस्कृतिक अभिव्यक्ति पाता है, चाहे इन फिल्मों के निर्माता इस बारे में सचेत हों या न हों। पूँजीवादी संस्कृति उद्योग द्वारा उत्पाद के रूप में पैदा हो रही हर फिल्म अपने ऐतिहासिक दौर और साथ ही प्रभुत्वशाली विचारधारात्मक अधिरचना में जड़ित होती है और उसके पुनरुत्पादन का कार्य करती है। एक रैडिकल या सबवर्सिव फिल्म भी प्रभुत्वशील विचारधारात्मक संरचना और ऐतिहासिक सन्दर्भ से ही जन्म लेती है; लेकिन वह स्थितियों का एक क्रान्तिकारी रूप से पक्षधर, आलोचनात्मक और सबवर्सिव प्रेक्षण और पाठ पेश करती है और इस रूप में वह विचारधारात्मक राज्य उपकरण में जड़ित नहीं होती। लेकिन हम जिन फिल्मों की बात कर रहे हैं वे दुनिया के सबसे बड़े पूँजीवादी फिल्म उद्योग के मानकीकृत और आद्यरूपीय (prototypical) उत्पाद हैं।

पिछले लगभग डेढ़ दशक में दर्जनों सुपरहीरो फिल्मों आयी हैं। ज़ाहिर है कि हम यहाँ सभी फिल्मों की समीक्षा या उन पर आलोचनात्मक टिप्पणी नहीं कर सकते हैं। लेकिन हम यहाँ तीन अलग प्रकार की प्रातिनिधिक सुपरहीरो फिल्मों का एक विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे। पहली फिल्म है सबसे पुराने सुपरहीरो सुपरमैन पर आधारित फिल्म ‘मैन ऑफ़ स्टील’ जिसे हमें हालिया सुपरहीरो फिल्मों में सबसे कमज़ोर और साधारण मान सकते हैं। दूसरी फिल्म है ‘आयरन मैन’ श्रृंखला जिसे हम सबसे बेशर्म, अपराध-बोध मुक्त, नग्न और राजनीतिक रूप से अश्लील साम्राज्यवादी प्रोपेगैण्डा फिल्मों की श्रेणी में रख सकते हैं। और तीसरी है क्रिस्टोफर नोलन की चर्चित बैटमैन त्रयी (बैटमैन बिगिन्स, द डार्क नाइट, द डार्क नाइट राइज़ेज़) जो हालिया सुपरहीरो फिल्मों में संरचना, बहुस्वरीयता और विन्यास के लिहाज़ से सबसे प्रभावी और जटिल फिल्मों में से एक है।

●
‘मैन ऑफ़ स्टील’ सर्वाधिक अतिसरलीकृत रूप में साम्राज्यवाद और नवउदारवादी पूँजीवाद के प्रभुत्वशील तर्क को रेखांकित करने और अमेरिकी संस्कृति के मानक पर एकलसंस्कृतिकरण का काम करने का प्रयास करती है। यह फिल्म नोलन की बैटमैन त्रयी के अनुसार अन्धकारमय सन्दर्भ में विकल्पहीनता और आशाहीनता के नवउदारवादी यथार्थवादी चित्रण पर आधारित नहीं है। ऊपरी तौर पर यह फिल्म उम्मीद की बात करती है। जैसा कि सुपरमैन (काल एल/क्लार्क केण्ट) का पिता फिल्म में एक दृश्य में सुपरमैन को बताता है कि ‘एस’ के प्रतीक का उनके ग्रह क्रिप्टॉन पर अर्थ है—उम्मीद। फिर यही बात सुपरमैन अपनी प्रेमिका लुइस लेन को भी एक अन्य दृश्य में बताता है। लेकिन वास्तव में यह फिल्म उम्मीद के नाम पर कुछ देती नहीं है। यह एकदम नग्न तौर पर अमेरिकी पूँजीवाद के नवउदारवादी और साम्राज्यवादी तर्क को बल देने का प्रयास करती है। जब सुपरमैन का पिता सुपरमैन को क्रिप्टॉन ग्रह की सभ्यता के पतन का

कारण बताता है, तो वह कहता है कि पहले उनकी सभ्यता अलग-अलग ग्रहों को औपनिवेशीकृत करती थी और वहाँ के वातावरण को अपने अनुसार ढालती थी। यही उनकी सभ्यता के विस्तार और विकास का कारण था। बाद में, यह सभ्यता अपने औपनिवेशिक विस्तार को छोड़ देती है और यही उसके पतन का कारण बनता है। यह कहीं न कहीं अमेरिका के सतत् विस्तार और सतत् युद्ध के सिद्धान्त को बल देता है। यह इस पक्ष में राय बनाने का काम करता है कि आज अमेरिकी साम्राज्यवाद के समक्ष भी सतत् युद्ध में उलझे रहने के अलावा कोई रास्ता नहीं है और वह अपनी उत्तरजीविता के लिए युद्ध पैदा करता है।

सुपरमैन के पिता जोर-एल और माँ लोर-वॉन शिशु काल-एल (सुपरमैन) और क्रिप्टॉन की सभ्यता के एक अंश को बचाने के लिए उसे एक कैप्सूल यान में रखकर पृथ्वी पर भेज देते हैं, जिसके बारे में उन्होंने पहले ही जाँच-पड़ताल कर ली होती है। पृथ्वी पर काल-एल का यान अमेरिका में कैन्सस में गिरता है और वहाँ शिशु सुपरमैन जोनाथन कंट व मार्था कंट को मिलता है। वे एक सामान्य अमेरिकी लड़के की तरह उसका पालन-पोषण करते हैं। धीरे-धीरे वह अपने इतिहास को जानता है, अपनी शक्तियों को पहचानता है। ज़ाहिर कि इसके बाद वह अक्सर ऐसी जगहों पर मौजूद रहता है जहाँ कोई हादसा होता है और उसके बाद वह एक रखवाले की तरह लोगों की रक्षा करता है! इसी बीच क्रिप्टॉन ग्रह का जनरल जॉड (जिसने सुपरमैन की पिता की हत्या भी की थी) पृथ्वी के अस्तित्व के लिए खतरा बन जाता है। वह पृथ्वी पर मनुष्यों की सभ्यता को समाप्त करना चाहता है। इसके लिए वह सुपरमैन को अपने साथ शामिल करने का प्रयास करता है। लेकिन अन्ततः सुपरमैन इससे इंकार कर देता है और जनरल जॉड से पृथ्वी की सभ्यता (जिसका अर्थ कुल मिलाकर उद्देश्यों के लिए अमेरिकी पूँजीवादी सभ्यता है) को बचाता है। इस बीच एक दृश्य है जिसमें सुपरमैन सपना देखता है कि वह मनुष्यों के कंकालों के बीच डूब रहा है। इसके बाद वह जनरल जॉड के साथ शामिल न होने और उससे पृथ्वी को बचाने का फैसला लेता है। वास्तव में, सपने में जनरल जॉड अपनी जिस योजना को अमली जामा पहना रहा है, उसकी तुलना अगर किसी चीज़ से की जा सकती है तो वह है यूरोपीय पूँजीवाद द्वारा अमेरिका की मूल सभ्यता का विनाश और मूल रेड इण्डियंस का कत्ले-आम। लेकिन फिल्म में यह रूपक पूरी सच्चाई को पलट देता है। यहाँ श्वेत अमेरिका पीड़ित बन जाता है और इस रूप में सुपरमैन की मदद का अधिकारी भी। जनरल जॉड के हमले के दृश्य को देखते ही आपको अपने टेलीविज़न स्क्रीन पर देखे हुए 11 सितम्बर 2001 के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर के हमले के दृश्य याद आते हैं। यह पूरा दृश्य लगभग वैसा ही है जिसमें इमारतें तबाह हो रही हैं और लोग अपनी जान बचाने के लिए सड़कों पर भाग रहे हैं। फिल्म में उस शहर का नाम मेट्रोपोलिस है, लेकिन आप आसानी से समझ सकते हैं कि वह वास्तव में न्यूयॉर्क है। इस प्रकार अमेरिका एक बार फिर बाह्य आतंकवादी हमले के शिकार के तौर पर प्रकट होता है, जिसके विरुद्ध कोई भी जवाबी कार्रवाई लाज़िमी है। यह आतंकवाद के पैदा होने को दूसरी दुनिया से आये एक शैतान जनरल जॉड की हरकतों का परिणाम मानती है और इस प्रकार मध्यपूर्व में इस्लामी कट्टरपंथी आतंकवाद को पैदा करने, पालने-पोसने और एक भस्मासुर में तब्दील करने में अमेरिकी भूमिका को पूरी तरह नज़रन्दाज़ भी कर देती है और साथ ही 'वॉर ऑन टेरर' को वैधता प्रदान करने का प्रकार्य भी करती है। अमेरिकी साम्राज्यवादी हस्तक्षेप को यह फिल्म

आत्मरक्षा के युद्ध के तौर पर पेश करने का प्रयास करती है। सुपरमैन स्वयं एक दैवीय चरित्र है जो दूसरी दुनिया से आया और उसके पास पृथ्वी पर ईश्वर जैसी शक्तियाँ हैं। इस तरह से साम्राज्यवादी हस्तक्षेप में अमेरिका को ईश्वर का समर्थन भी प्राप्त है, जैसा कि अमेरिकी राष्ट्रपति अक्सर कहा करते हैं, 'गॉड इज़ विद अमेरिका'।

ज़ाहिर है इस सुपरहीरो के आत्मान्वेषण की पूरी यात्रा पौरुष के आत्मान्वेषण की यात्रा होती है। एक साम्राज्यवादी-पूँजीवादी राज्यसत्ता का जेण्डर हमेशा पुरुष ही होता है। नतीजतन, जैसे-जैसे सुपरमैन अपनी शक्तियों की पहचान करता जाता है और उसमें अपने जीवन के उद्देश्य की समझ आती है, वैसे-वैसे वह अपने दोनों पिताओं (जोर-एल और जोनाथन केंट) के गौरव को पुनर्स्थापित करने के बारे में सोचता है। यह पौरुष का आत्म-बोध वास्तव में किसी भी मर्दाना (masculine) चरित्र के आत्म-बोध की साँचाबद्ध (typical) यात्रा है। यह पौरुषपूर्ण आत्म-बोध ही तो वह चीज़ है जो पुरुषों को सौष्ठवपूर्ण, वीर और आकर्षक बनाती है! और सुपरमैन को एक महानायक के तौर पर स्त्रियों में लोकप्रिय तो होना ही है। इस रूप में सुपरमैन के पूरे चरित्र को एक पिटे-पिटाये फॉर्मूले के आधार पर विकसित किया जाता है। यही कारण है कि लुइस लेन को फिल्मकार एक स्वतन्त्र स्त्री के तौर पर चिह्नित करता है, मगर अन्त में आपको पता चलता है कि ऐसा तो सिर्फ़ परिघटनात्मक स्तर पर किया जा रहा था। वास्तव में, सुपरमैन अन्ततः लुइस लेन को और दुनिया को बचाता है और लुइस लेन को अन्ततः एक सुपरहीरो बॉयफ्रेंड मिल जाता है।

इसके अलावा, जैसा कि पूँजीवादी संस्कृति उद्योग के उत्पाद के तौर पर बनी आज की लगभग सभी फिल्मों में होता है, इसके तमाम दृश्य विभिन्न उपभोक्ता सामग्रियों के प्रचार से भरे होते हैं। जैसे कि 'मैन ऑफ़ स्टील' में नोकिया, अमेरिकी सेना और सेवेन-इलेवन आदि के प्रचार आप लगातार फिल्म के पर्दे पर देख सकते हैं। और ये दृश्य सिर्फ़ उत्पाद का प्रचार नहीं हैं बल्कि समूची साम्राज्यवादी व नवउदारवादी उपभोक्तावादी संस्कृति और माल अन्धभक्ति का प्रचार करते हैं।

'आयरन मैन' श्रृंखला सुपरहीरो फिल्मों में एक खास स्थान रखती है। आयरन मैन सम्भवतः सबसे ज़ेनुइन अमेरिकी सुपरहीरो है। यह अमेरिकी पूँजीवादी समाज और संस्कृति के सबसे प्रातिनिधिक मूल्यों का सबसे गैर-विचारधारात्मक तौर पर प्रतिनिधित्व करता है। आयरन मैन की कहानी अमेरिकी पूँजीवादी व्यक्तिवाद के विजय की गाथा है। इस चरित्र में एक निजी जासूस या जाँचकर्ता, योद्धा, विजिलान्ते और वैज्ञानिक और तकनोलॉजिकल महाप्रतिभा का मिश्रण है। यह अमेरिकी व्यवहारवादी सोच का भी सबसे खुले तौर पर प्रतिनिधित्व करता है। आयरन मैन उर्फ़ टोनी स्टार्क क्लिंट ईस्टवुड के अमेरिकी नायक और स्टीव जॉब्स का एक मिश्रित रूप भी है। वह क्लिंट ईस्टवुड के नायक के समान किसी भी संकट या समस्या के समाधान के लिए द्रुत, हिंसक और प्रत्यक्ष हस्तक्षेप से समाधान का हिमायती है। आयरन मैन एक ऐसे में दौर में अमेरिकी अपवाद-वाद के मिथक का पुनर्सृजन करने का प्रयास करता है, जिस दौर में यह अमेरिकी अपवाद-वाद पूर्णतः ध्वस्त हो चुका है। वियतनाम युद्ध में अमेरिका की शर्मनाक पराजय और इराक़ से लेकर अफगानिस्तान तक में उसकी किरकिरी के बाद आयरनमैन अमेरिकी साम्राज्यवाद और उसके अपवाद-वाद की एक 'विश-फ़ैण्टेसी' के रूप में प्रकट होता है। आयरन मैन किसी भी रूप में आदर्शवादी सुपरहीरो नहीं है। वह अक्सर व्यंग्य की मुद्रा में रहता है। जीवन के हर नये परिवर्तन को बिन्दास तरीके से लेता है। वह अपने अत्यधिक धनी होने,

उपभोक्तावादी होने को लेकर किसी शर्म या अपराध-बोध से ग्रस्त नहीं है। उल्टे वह एक रसिया किस्म का अतिधनाढ्य है जो कि अपने भोगवाद, लम्पटई और ऐशो-आराम का जश्न मनाता है, उसका दिखावा करता है। लेकिन साथ ही वह अच्छाई का प्रतिनिधित्व करता है; उसका एक कर्तव्य-बोध और नैतिकता है। यहाँ आपको नीत्सो का उबरमेंश का सिद्धान्त याद आ सकता है। आयरन मैन भी उत्पादन ही नहीं बल्कि शासन करने के श्रम से भी मुक्त है और उसके अन्दर शक्ति की ज़बर्दस्त व्यक्तिवादी आकांक्षा है। इस रूप में वह अमेरिकी साम्राज्यवाद का आधुनिक कॉउबॉय भी है। वह अमेरिकी सामाजिक डार्विनवाद और बीमार व्यक्तिवाद का बेशर्मी से समर्थन और हिमायत करता है। टोनी स्टार्क एक हथियार बनाने की कम्पनी चलाता है। जब अफगानिस्तान में अमेरिकी सेना के लिए अपने एक बेहद विनाशकारी हथियार का प्रदर्शन करने के दौरान वह आतंकवादी हमले में घायल हो जाता है तो वह ग़ौर करता है उस पर हमले के लिए भी उसी की कम्पनी के बनाये हथियारों का इस्तेमाल किया गया है जिसका कारण यह है कि उसी के कम्पनी के एक बुरे व्यक्ति ने देश के हितों को तिलांजलि देकर आतंकवादियों को हथियार मुहैया कराये थे। यहाँ पर आप देख सकते हैं कि बुरे पूँजीपति को अच्छे पूँजीपति टोनी स्टार्क से अलग दिखाया जा रहा है। बहरहाल, टोनी स्टार्क आतंकवादियों की कैद में ही आयरन मैन में तब्दील होता है। यहाँ आप नीत्सो के तकलीफ़ के कल्ट के सिद्धान्त को देख सकते हैं। तकलीफ़ें ही महानता पैदा करती हैं। उबरमेंश तकलीफ़ों की भट्ठी में पनपता है। लेकिन टोनी स्टार्क तकलीफ़ों के इस अनुभव के बाद हथियारों की मैन्युफैक्चरिंग बन्द कर देता है। लेकिन ऐसा वह इसलिए नहीं करता कि उसका हृदय-परिवर्तन हो गया है और वह शान्तिवादी बन गया है। अब वह अपने वैज्ञानिक और तकनोलॉजिकल संसाधनों और मेधा का इस्तेमाल आयरन मैन का सूट बनाने में करता है।

आयरन मैन का असली मकसद है अमेरिकी वर्चस्व को और वैश्विक हवलदार की उसकी भूमिका को पुनर्स्थापित करना। इसके लिए ऐसी चीज़ें करने की आवश्यकता है जो कि अमेरिकी सेना तमाम किस्म के नियमों और कानूनों में बँधी होने के कारण नहीं कर सकती है। ये काम एक कारपोरेट शस्त्र व्यवसायी कर सकता है। आगे आयरन मैन अमेरिकी सेना के साथ मिलता हुआ दिखता है और अमेरिकी सेना से तालमेल में काम करता है। अमेरिकी सेना स्वयं ऐसे आयरन मैन सूट का इस्तेमाल करने लगती है और आयरन मैन और अमेरिकी सेना मिलकर शत्रुओं का संहार करती है। इस रूप में यह कारपोरेट राज्य की मुसोलिनी की अवधारणा का एक अमेरिकी संस्करण निर्मित करता है जिसमें कारपोरेट हित और पूँजीवादी राज्यसत्ता का फ़्यूज़न हो गया है। आप कह सकते हैं कि यह अमेरिकी साम्राज्यवाद और अमेरिकी पूँजीवादी जनवाद के साथ एक कारपोरेट राज्य है। 'अवेजर्स असेम्बल' में आयरन मैन को शीत युद्ध के दौर में सबसे प्रतीकात्मक नायक कैप्टन अमेरिका और दिव्य सहायता के रूप में थोर का साथ भी मिलता है।

टोनी स्टार्क बेहद अमीर है। वह असाधारण वैज्ञानिक और तकनोलॉजिक प्रतिभा का धनी है। वह अपने प्रतिभावान पिता की सच्ची औलाद है। यहाँ हम पूँजीवादी उत्तराधिकार और विरासत का भी एक साँचाबद्ध चित्रण देख सकते हैं। महानता वंश में ही होती है! और इसके साथ अगर अमेरिकी मेहनतीपन, ढेर सारा पैसा, वैज्ञानिक-तकनोलॉजिकल प्रतिभा का मिश्रण हो जाये तो व्यक्तिगत महानता की एक नयी कहानी लिखी जा सकती है। टोनी स्टार्क की कहानी भी अमेरिकी पूँजीवादी व्यक्तिवाद की सेंसेशनल विजय की कहानी है। वह सुपरमैन

जैसा नैतिक होने की बजाय एक काउबॉय जैसी नैतिकता में यकीन रखता है और इसलिए अपने एकल व्यक्तिवाद के साथ वह जेम्स बॉण्ड मार्का उपभोक्तावाद और साथ ही क्लिंट ईस्टवुड जैसे काउबॉय का मिश्रण करता है। अमेरिकी वेस्टर्न्स के समान यहाँ भी अमेरिकी पूँजीवाद के विस्तार के लिए एक अनन्त विस्तार को चित्रित किया गया है। लेकिन यह विस्तार अब अमेरिकी महाद्वीप के भीतर अमेरिकी पूँजीवादी सभ्यता का पश्चिमी सीमान्त नहीं है। बल्कि अमेरिकी पूँजीवाद के अनन्त विस्तार के लिए अन्तहीन खुला मैदान अब पूरी पृथ्वी है। आयरन मैन जब चाहे दुनिया के किसी कोने में जाकर किसी भी शत्रु का ख़ात्मा कर सकता है। दुनिया के बाकी देश इसके बारे में कुछ नहीं कर सकते और इस आधुनिक अमेरिकी काउबॉय से निपटने की ताक़त उनके पास नहीं है। काउबॉय फिल्मों के मूल निवासी खलनायकों और बुरे श्वेत खलनायकों की जगह अब दूसरे 'दुष्ट' राष्ट्रों ने ले ली है। साथ ही, कुछ बुरे पूँजीपतियों को भी आयरन मैन ठिकाने लगाता है, जो कि देशभक्त नहीं रह गये हैं!

आयरन मैन का चरित्र रॉबर्ट डाउनी जूनियर ने अपनी विशिष्ट आकर्षक शैली में निभाया है। उसका स्टाइल उसे लोकप्रिय बनाने में काफ़ी मदद करता है। इसलिए आयरन मैन फिल्मों द्वारा साम्राज्यवादी विस्तारवाद, हस्तक्षेप, युद्ध और नवउदारवादी भोगवाद, माल अन्धभक्ति का बेशर्म, अपराध-बोध मुक्त और अश्लील चित्रण भी युवाओं के बीच आयरन मैन को लोकप्रिय बनाता है। इस रूप में आयरन मैन फिल्में अमेरिकी बीमार व्यक्तिवाद, सामाजिक डार्विनवाद और 'विनर्स टेक ऑल' की विचारधारा के एक प्रभावी वाहक का काम करती हैं और अमेरिकी साम्राज्यवाद की ज़्यादातियों और नरसंहारों का नैसर्गिकीकरण कर उन्हें स्वीकार्य बनाने का प्रयास करती हैं।



अगर सुपरहीरो फिल्मों की बात की जाये तो सम्भवतः इस शैली में बनी तमाम फिल्मों में सबसे प्रभावी और सफल फिल्मों में सबसे पहले क्रिस्टोफर नोलन की बैटमैन त्रयी (बैटमैन बिगिन्स, द डार्क नाइट और द डार्क नाइट राइज़ेज़) का नाम आयेगा। बैटमैन त्रयी को दरअसल एक फिल्म और एक कहानी के तौर पर देखा जाना चाहिए। इस एक कहानी में सुपरहीरो बैटमैन यह सीखता है कि एक सच्चे पूँजीवादी सार्वभौम होने का अर्थ क्या है और इसके लिए उसे क्या करना होगा। बैटमैन त्रयी की फिल्मों में पूँजीवादी विजयवाद अपने नग्न रूप में प्रकट नहीं होता है। इनमें पूँजीवादी समाज की पतनशीलता, हताशा, भ्रष्टाचार और असमानता को छिपाने का प्रयास नहीं किया गया है। फिल्म कभी यह नहीं बोलती कि पूँजीवादी समाज में मूलतः सबकुछ ठीक-ठाक है। लेकिन इस फिल्म का सबसे पहला सन्देश यह है कि पूँजीवादी समाज में असमानता, शोषण, भ्रष्टाचार के बावजूद इसका कोई विकल्प नहीं है; यदि इसका कोई विकल्प पेश करने का प्रयास किया गया तो अन्ततः वह अराजकता और आतंकवाद में समाप्त होगा। इस रूप में यह फिल्म छद्म युगों की एक बाइनरी पेश करती है: पतनशील पूँजीवाद बनाम अराजकता। तीसरा कोई विकल्प नहीं है। इस रूप में यह छद्म बाइनरी किसी भी विकल्प की सम्भावना से इंकार करती है।

नोलन की बैटमैन त्रयी की पहली कड़ी में ही मौजूदा आर्थिक संकट का विस्तृत चित्रण है। लेकिन यह संकट पूँजीवादी व्यवस्था की नैसर्गिक गति और आन्तरिक ढाँचे से पैदा हुआ संकट नहीं है। यह 'लीग ऑफ़ शैडोज़' द्वारा किये गये षड्यन्त्र का परिणाम है। पहली फिल्म में बैटमैन के बैटमैन बनने की कहानी को दिखलाया गया है। बैटमैन वास्तव में एक कारपोरेट

पूँजीपति ब्रूस वेन है। उसके मुनाफ़े का बड़ा हिस्सा हथियारों की मैन्युफैक्चरिंग और स्टॉक बाज़ार में सट्टेबाज़ी से आता है। इस विरोधाभास को हल करने के लिए फिल्म साथ ही ब्रूस वेन को एक मानवतावादी और फ़िलैन्थ्रोपिस्ट के रूप में भी पेश करती है जो दान-कर्म करने और अनाथालय वगैरह भी चलाने के लिए पैसे देता है। अनाथालय चलाने के लिए वह इसलिए भी पैसे देता है क्योंकि वह स्वयं भी बचपन में अनाथ हो गया था, जब उसके माता-पिता को एक गुण्डे ने बचपन में मार दिया था। ब्रूस वेन के बैटमैन बनने की प्रेरणा उसी घटना से आती है। बहरहाल, इस अच्छे पूँजीपति को इस फिल्म त्रयी में हमेशा बुरे और भ्रष्ट पूँजीपति के बरक्स खड़ा किया जाता है जैसे कि डॉक्टर ईथन क्रोन और डैगेट। ये बुरे पूँजीपति फिल्म में लुटेरे, देशभक्ति से रिक्त और भ्रष्ट पूँजीवाद के प्रतीक के रूप में दिखते हैं, जबकि ब्रूस वेन और उसके कम्पनी के कई डायरेक्टर या पूँजीवादी टेक्नोक्रेट लूसियस फॉक्स अच्छे, ज़िम्मेदार, मानवतावादी और नैतिक पूँजीवाद के प्रतीक के रूप में दिखलाये जाते हैं। लूसियस फॉक्स तो उस समय बैटमैन की अन्तरात्मा की आवाज़ बनने का प्रयास भी करता है जब बैटमैन एक शिमटियन सार्वभौम बनने की प्रक्रिया में गॉथम के सारे नागरिकों के मोबाइल को टैप और ट्रैक करता है, ताकि वह जोकर को पकड़ सके। फॉक्स कहता है, “यह अनैतिक है...यह एक व्यक्ति के हाथ में बहुत अधिक शक्ति है।” लेकिन बैटमैन स्पष्ट कर देता है कि वह इस शक्ति को सदा अपने हाथ में केंद्रित नहीं रखेगा और इसका प्रयोग केवल लूसियस फॉक्स ही कर सकता है। यहाँ यह भी दिखलाया जाता है कि अभी बैटमैन नैतिकता के बन्धनों से पूर्ण रूप से मुक्त हो एक सच्चा पूँजीवादी सार्वभौम बनने को तैयार नहीं है।

बहरहाल, लीग ऑफ़ शैडोज़ के खलनायक (रास अल गुल व बेन तथा जोकर) भ्रष्ट और बुरे पूँजीवाद का इस्तेमाल करके ही अपने कुकर्मों को अंजाम देते हैं। लेकिन बैटमैन त्रयी के खलनायक पैसे या सत्ता में दिलचस्पी रखने वाले खलनायक नहीं हैं। रास अल गुल, बेन और जोकर को पैसों में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं है और इस तथ्य को रेखांकित करने के लिए फिल्म हर कड़ी में कुछ विशेष वाक्यों को पेश करती है, जैसे कि जोकर द्वारा नोटों के ढेर को जलाया जाना या फिर बेन द्वारा पूँजीपति डैगेट को यह सन्देश देना कि वह पैसों से उसे खरीद नहीं सकता। साथ ही, बैटमैन को भी एक पूँजीपति होने के बावजूद पैसों में कोई दिलचस्पी नहीं है। इसीलिए वह वैकल्पिक ऊर्जा के स्रोत के निर्माण के लिए पहले एक काफ़ी खर्चीले न्यूक्लियर रिएक्टर का निर्माण करता है और जब उसे पता चलता है कि इसे एक खतरनाक परमाणु बम में भी तब्दील किया जा सकता है तो वह उस परियोजना को ही बन्द कर देता है हालाँकि इससे ब्रूस वेन की कम्पनी दिवालियेपन की हालत में पहुँच जाती है। यह वास्तव में दो अतिमानवों के टकराव को पेश करता है: बैटमैन फिल्म के खलनायक भी एक रूप में उबरमेंश की भूमिका में ही हैं, जो कि परिघटनात्मक स्तर पर पूँजीवादी समाज को चुनौती पेश करते दिखलाये गये हैं और बैटमैन वह उबरमेंश है जो कि पूँजीवादी जनवाद के रखवाले के तौर पर पेश किया जाता है। बल्कि कह सकते हैं कि बैटमैन के तीनों प्रमुख शत्रु ही उसे वास्तव में एक पूँजीवादी उबरमेंश, एक पूँजीवादी सार्वभौम बनने में मदद करते हैं। बैटमैन स्वयं पूँजीपति वर्ग के प्रति सशक्त है। वह बुर्जुआ वर्ग का एक आदर्शवादी और नैतिक हिरावल है और उसके और आम पूँजीपतियों के बीच के फर्क को फिल्म बार-बार रेखांकित करती है। इस रूप में बैटमैन और उसके शत्रुओं में हम नैतिकता की एक विशिष्ट प्रवृत्ति को देख सकते हैं। यह बात जोकर के विषय में ऊपरी तौर पर लागू होते हुए

नहीं दिखती है। लेकिन फिर भी, जोकर में भी पूँजीवादी पतन के बरक्स एक विशिष्ट नैतिकता की पहचान की जा सकती है।

इन फिल्मों में बार-बार गॉथम, जो कि बैटमैन का शहर है और शान्ति और व्यवस्था का प्रतीक है, में सतह के नीचे सुलगते असन्तोष को दिखलाया गया है। ऊपर से नज़र आ रही शान्ति तूफान के आने के पहले का सन्नाटा है। तीसरी फिल्म में सेलीना काइल (ऐन हैथवे) ब्रूस वेन से कहती है कि एक तूफान आ रहा है जिसके आने पर तुम लोग (धनी लोग) अपने आपसे पूछोगे कि तुम लोग इतने समय तक इतने प्राचुर्य और ऐश्वर्य के साथ कैसे जीते रह सकते थे, जबकि हम जैसे आम लोगों के लिए तुम इतना कम छोड़ रहे थे। फिल्म में सेलीना काइल एक टुटपूँजिया लेकिन बेहद तेज़-तर्रार चोर है और वह निचले वर्गों के लोगों का प्रतिनिधित्व कर रही है। वह स्वयं बेन के दिखावटी क्रान्तिकारी जुमलेबाज़ी से शुरू में प्रभावित हो जाती है, जो कि धनिक वर्ग के पतनशील ऐश्वर्य के विरुद्ध अराजकतापूर्ण बगावत का आह्वान करता है। बाद में, वह इस अराजकतावादी विद्रोह की विद्रूपता को देखती है और बैटमैन के साथ आ जाती है।

बैटमैन का एक उसूल है कि वह कभी बन्दूक का इस्तेमाल नहीं करता और साथ ही वह किसी अपराधी को मारता नहीं है। वह बस उसे कानून के हवाले करने में मदद करता है। लेकिन फिल्म इस नियम या आत्म-आरोपित नैतिक बाध्यता को एक सुपरहीरो, एक उबरमेश की भूमिका में एक बाधा के तौर पर पेश करती है। त्रयी के पहले हिस्से 'बैटमैन बिगिन्स' में रास अल गुल गॉथम को बरबाद करने के लिए उस पर हमला करता है और इस हमले के लिए वह ब्रूस वेन के औद्योगिक ढाँचे का ही इस्तेमाल करता है। रास अल गुल लीग ऑफ़ शैडोज़ से है जो कि एक सदियों पुराना संगठन है। यह संगठन यह मानता है कि जब सभ्यता अपनी पतनशीलता के चरम पर पहुँच जाती है तो एक बार उसके विनाश की आवश्यकता होती है। इसके ज़रिये काउण्टर को दुबारा ज़ीरो पर रीसेट कर दिया जाता है और फिर नये सिरे से शुरू से शुरूआत होती है! आप देख सकते हैं कि पूँजीवादी पतनशीलता के विकल्प के तौर पर किसी 'एग्ज़ॉटिक' मूर्खता को पेश किया गया है! ख़ैर, गॉथम चूँकि पूँजीवादी पतनशीलता का एक प्रतीक है इसलिए रास अल गुल गॉथम पर हमला करता है। ब्रूस वेन भी लीग ऑफ़ शैडोज़ में ही प्रशिक्षित होता है और बैटमैन बनने की क्षमता अर्जित करता है। लेकिन वह लीग ऑफ़ शैडोज़ के रास्ते का परित्याग कर गॉथम वापस आ जाता है और बैटमैन बनता है। बहरहाल, रास अल गुल ने गॉथम पर हमले में ब्रूस वेन के उद्योगों के ढाँचे का इस्तेमाल किया जो कि ब्रूस वेन के नियन्त्रण में था और वेन उसके बारे में कहीं ज़्यादा अच्छी तरह से जानता था। इसके कारण अन्ततः ब्रूस वेन रास अल गुल को हरा देता है, लेकिन वह रास अल गुल को मारता नहीं, बल्कि उसे 'मरने देता है'। बैटमैन कहता है, 'मैं तुम्हें मारूँगा नहीं, लेकिन तुम्हें बचाना मेरी मजबूरी नहीं है।' लेकिन स्पष्टतः यह कोई प्रभावी तर्क नहीं है। रास अल गुल बैटमैन को अपने आपको मारने की ही चुनौती देता है और अलग-अलग समय पर वह बैटमैन को एक सार्वभौम, एक सच्चे उबरमेश की अपनी भूमिका को अपनाने के लिए उकसाता है। वह कहता है, 'तुम अभी तक समझ नहीं पाये कि क्या करना अनिवार्य है।' श्रृंखला की पहली फिल्म में तो बैटमैन रास अल गुल को अपने हाथों से मारने से बच जाता है। लेकिन बैटमैन की नैतिक बाध्यताओं और बन्धनों पर पहली फिल्म में ही सवाल खड़े कर दिये गये हैं। फिल्म स्पष्ट तौर पर यह प्रश्न पूछती है कि क्या नैतिक

बन्धनों और बाध्यताओं के साथ पूँजीवादी राज्यसत्ता वास्तव में सार्वभौम हो सकती है? क्या प्रबोधन के जनवाद और समानता के उसूलों के साथ क्या पूँजीवादी सार्वभौम या उबरमेश व्यवस्था को बरकरार रखने का काम कर सकता है? क्या ऐसा हो सकता है कि सार्वभौम व्यवस्था से दूरी लेकर, उससे अलग होकर भी व्यवस्था की रक्षा करे?

श्रृंखला की दूसरी फिल्म में बैटमैन का मुकाबला एक ऐसे खलनायक से होता है जो कि पूर्ण अराजकता में विश्वास करता है। वह रास अल गुल और लीग ऑफ़ शैडोज़ के समान सभ्यता का इसलिए विनाश नहीं करना चाहता कि सभ्यता पतनशीलता के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी है और उसे फिर से शुरू करना होगा। उसका पूँजीवादी सभ्यता, पूँजीवादी नैतिकता, पूँजीवादी संरचनाओं में कोई यकीन ही नहीं है। वह एक सर्वखण्डनवादी अराजकतावाद का हिमायती है और उसका कोई सकारात्मक प्रस्ताव नहीं है। वह अस्तित्व और सभ्यता की ही अर्थहीनता को दिखला देना चाहता है। इस रूप में वह कोई विकल्प नहीं रखता। वह मानता है कि केवल 'अराजकता ही न्यायपूर्ण होती है।' यह क्रान्तिकारी अराजकतावाद से कोसों दूर है जो कि मजदूर वर्ग में एक टुटपूँजिया क्रान्तिकारिता के ट्रेण्ड के रूप में पैदा हुई थी। यह पूँजीवादी सभ्यता के मरणासन्न और पतनशील दौर में पैदा हुई एक पैथोलॉजिकल, सर्वखण्डनवादी अराजकतावादी प्रतिक्रिया है। जोकर एक प्रसंग में अस्पताल में पड़े हावी डेंट को एक नीत्सोइयन मोनोलॉग बोलता है जिसमें कि वह अपने सर्वखण्डनवादी अराजकतावाद को स्पष्ट करता है। वह कहता है कि वह अराजकता का अभिकर्ता है; वह योजनाएँ और स्कीमें बनाने में यकीन नहीं करता, वह बस करता है। जोकर आगे कहता है कि पुलिस कमिश्नर गॉर्डन जैसे लोग स्कीमें बनाते हैं। लेकिन स्कीमें बनाने वालों में वह बैटमैन का नाम नहीं लेता। जोकर भी बैटमैन को सार्वभौम बनने के लिए प्रेरित करता और चुनौती देता है। वह एक जगह बैटमैन को कहता है, "उन लोगों की तरह बात मत करो! तुम जानते हो कि तुम उनमें से नहीं हो।" आप कह सकते हैं कि बैटमैन त्रयी में सभी खलनायक एक उपकरण हैं जो कि बैटमैन को एक शिमटियन पूँजीवादी सार्वभौम बनने के लिए प्रेरित करते हैं और उसे समझाते हैं कि इसके अलावा पूँजीवादी राज्यसत्ता, पूँजीवादी उबरमेश के लिए और कोई रास्ता नहीं है। एक अन्यायपूर्ण व्यवस्था, एक गैर-बराबरी वाले समाज में कानून और व्यवस्था को बरकरार रखने का काम कानून और व्यवस्था से इतर होकर ही किया जा सकता है! बैटमैन व्यवस्था के आन्तरिक संकट और पूँजीवादी समाज की पतनशीलता को देख रहा है और समझ रहा है। उसके बावजूद वह कानून और व्यवस्था को बरकरार रखने, यानी कि इसी व्यवस्था को बरकरार रखने पर बल देता है। वहीं दूसरी ओर वह अपनी नैतिक दुविधाओं और जंजीरों से भी मुक्त नहीं हो पाता है। जोकर इन्हीं अन्तरविरोधों का लाभ उठाता है और इस प्रक्रिया का पर्याप्त आनन्द लेता है। वह बैटमैन के सामने दो विकल्प रखता है—या तो वह अपने नैतिक नियमों को तोड़कर जोकर की हत्या करे और एक पूर्ण पूँजीवादी सार्वभौम में तब्दील हो जाये या फिर वह अपने नैतिक नियमों और बुर्जुआ जनवाद के बन्धनों में बँधा रहे और जोकर द्वारा लायी जा रही तबाही को जारी रहने दे। यहाँ हम जो प्रक्रिया घटित होते देख रहे हैं वह है व्यवस्था का निषेध (Negation) या फिर उसकी पुष्टि (Affirmation)। जोकर व्यवस्था के सिर्फ़ शुद्ध निषेध का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि बैटमैन व्यवस्था की शुद्ध पुष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। इन दोनों के बीच

की गैर-द्वन्द्वात्मक बाइनरी जानबूझकर पेश की गयी है क्योंकि ऐसी बाइनरी वास्तव में किसी भी बदलाव की गुंजाइश को समाप्त कर देती है। परिवर्तन की प्रक्रिया न तो शुद्ध रूप से निषेध की प्रक्रिया होती है और न ही शुद्ध रूप से पुष्टि की प्रक्रिया। ऐसी कोई भी प्रक्रिया मूलतः निषेध का निषेध (Negation of Negation) की प्रक्रिया ही हो सकती है।

ज़ाहिर है कि तमाम सुपरहीरो फिल्मों में हमेशा बुरे और अच्छे के बीच के टकराव को आदर्श रूप में चित्रित किया जाता है। बुरा क्यों बुरा है इसकी आम तौर पर कोई कारणात्मक व्याख्या नहीं होती; बुरा बस बुरा होता है; यही बात अच्छाई के चित्रण पर भी लागू होती है। और उसे एक प्रकार के छद्म (पूँजीवादी) यथार्थवाद के ज़रिये पेश किया जाता है: 'ऐसा ही होता है! कुछ लोग बुरे होते हैं और वे बुरे कामों को अंजाम देते हैं! इसीलिए हमें हमारे सुपरहीरोज़ की आवश्यकता होती है।' 'दि डार्क नाइट' में भी जोकर किसी विकल्प के प्रस्ताव के बगैर पूँजीवादी समाज की खोखली नैतिकता, असमानता, अन्याय और रूपवाद का मज़ाक उड़ाता है और उसकी आलोचना करता है। चूँकि यह आलोचना अपने आप में पूँजीवादी समाज की मरणासन्नता और खोखलेपन के तमाम पहलुओं को उजागर करती है इसलिए जोकर का चरित्र दुनिया भर में पूँजीवाद-विरोध का एक प्रतीक बन गया है। यही कारण है कि फिल्म के जिस हिस्से में पूँजीवादी समाज की नैतिकता की जोकर की आलोचना को ग़लत दिखाया जाता है वह पूरी फिल्म का सबसे कमज़ोर दृश्य है। यह दृश्य वह है कि जिसमें कि जोकर दो नावों में बम लगा देता है; इन नावों में से एक में गॉथम शहर के ख़तरनाक अपराधी होते हैं और दूसरे में सामान्य नागरिक होते हैं; पहली नाव के बम का डेटोनेटर जोकर दूसरी में सवार लोगों के हवाले कर देता है और दूसरी नाव के बम का डेटोनेटर पहली नाव के लोगों के हाथ और दोनों पर ही सवार लोगों को एक निश्चित समय में एक-दूसरे की नाव को उड़ा देने के लिए कहता है, अन्यथा वह दोनों ही नावों को उड़ा देने की धमकी देता है। अन्ततः, दोनों ही नावों के लोगों पर अन्तरात्मा का आकस्मिक हमला होता है और वे एक-दूसरे की जान नहीं लेते! यह दृश्य दर्शकों को सहमत करने में असफल होता है। जोकर इस पर यह टिप्पणी करता है, "आजकल आप किसी भी चीज़ पर भरोसा नहीं कर सकते!" जोकर का चरित्र निश्चित रूप से बहुत ही प्रभावी ढंग से गढ़ा गया चरित्र है और एक बहुत ही स्वयंस्फूर्त सर्वखण्डनवादी अराजकतावाद है, जो पूँजीवादी व्यवस्था के रूपवाद और नकली नैतिकता से बेतरह नफ़रत करता है। इस चरित्र को हीथ लेजर ने जिस तरीके से पर्दे पर उतारा है, उसे हॉलीवुड फिल्मों के इतिहास के सर्वश्रेष्ठ परफॉर्मेंस में से एक कहा जाय तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी।

लेकिन फिर भी जोकर द्वारा पूँजीवादी नैतिकता और आचार की यह आलोचना कोई प्रगतिशील वैज्ञानिक आलोचना नहीं है जो कि आलोचना की प्रक्रिया में ही एक विकल्प को पेश करती है, बल्कि यह नीत्शे की 'जीनियॉलजी ऑफ़ मॉर्ल्स' के मानवतावाद-विरोध और सर्वखण्डनवादी अराजकतावाद का एक प्रतिगामी मिश्रण है, जो केवल परिघटनात्मक तौर पर रैडिकल दिखता है। बहरहाल, जोकर पूँजीवादी सार्वभौमता के समक्ष जो चुनौती पेश करता है और बैटमैन के अन्तरविरोधों को जिस तरह उजागर करता है, उसे फिल्म के अन्त में पुलिस कमिश्नर गॉर्डन और बैटमैन एक प्रकार से स्वीकार करते हैं। वे एक प्रकार से

यह मानते हैं कि पूँजीवादी सार्वभौमता कभी भी नैतिक नहीं हो सकती है। नतीजतन, एक संसदीय आपातकाल ('अपवादस्वरूप स्थिति') लागू कर दी जाती है, जिसके कानूनी प्रावधान डेंट कानून के रूप में सामने आते हैं और डेंट कानून एक प्रकार से बैटमैन की असफल सार्वभौमता का विकल्प बनते हैं, जो कि फर्जी नैतिकता में फँसी हुई थी। बैटमैन अभी तक, रास अल गुल के शब्दों में, यह समझ नहीं सका था कि क्या करना अपरिहार्य और अनिवार्य है। लेकिन जैसा कि होता है, कोई भी संवैधानिक कानूनी प्रावधान किसी न किसी प्रकार की नैतिक बाध्यता में फँसा ही होता है। इस रूप में डेंट कानून भी क्रमिक प्रक्रिया में निष्प्रभावी हो जाता है। वैसे भी यदि कानूनी संवैधानिक ढाँचे में डेंट कानून जैसा कोई कानून लागू किया जाता है तो वह राज्यसत्ता की हिंसा को ऐसी व्यापकता देता है जो कि उसके वर्चस्व के लिए ही एक खतरा बन जाता है। **वर्चस्वकारी प्राधिकार का एक ही ही अर्थ हो सकता है—बिना ज़ोर-ज़बर्दस्ती के लोगों को ऐसी स्थिति में रखना जिससे कि वे बिना प्रश्न उठाये प्राधिकार को स्वीकार करें।** डेंट कानून जैसे कानून के जरिये ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए संवैधानिक पूँजीवादी राज्यसत्ता की ही अपनी एक सीमा होती है और वह अपवादस्वरूप स्थिति पर निर्णय लेने में आन्तरिक रूप से अक्षम होती है। पूँजीवाद के राजनीतिक व आर्थिक संकट के दौर में यह बात और भी ज़्यादा लागू होती है। यही कारण है कि एक ऐसे प्राधिकार (सार्वभौम) की आवश्यकता होती है, जो कि पूँजीवादी राज्यसत्ता से अलग भी रहे और पूँजीवादी शासन की ही रक्षा भी करे। यह कार्य एक शिमटियन सार्वभौम ही कर सकता है, जिसका एक वास्तविक अवतरण, शिमट के अनुसार हिटलर था!

बैटमैन त्रयी में संवैधानिक पूँजीवादी राज्यसत्ता का सार्वभौमता पर दावा जानबूझकर कमज़ोर दिखलाया गया है। मिसाल के तौर पर, राज्यसत्ता हर जगह कमज़ोर, भ्रष्ट, निष्प्रभावी निकाय के तौर पर प्रदर्शित की गयी है। इस राज्यसत्ता को बाईपास करने के रास्ते अपराधियों ने निकाल लिये हैं। वे उससे डरते नहीं। डेंट कानूनों के बाद पैदा किया गया राज्यसत्ता का भय भी लघुजीवी रहा और अपराधियों ने अपने तौर-तरीके बदलकर उससे बच निकलने के रास्ते निकाल लिये। बैटमैन इस रूप में एक सार्वभौम था कि उसे अपने प्राधिकार की स्वीकार्यता के लिए किसी प्रकार की ज़ोर-ज़बर्दस्ती की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन वह सार्वभौमता की सभी शर्तों को पूर्ण करने के लिए तैयार नहीं था। तीसरी फिल्म 'दि डार्क नाइट राइज़ेज़' में अन्ततः बैटमैन सार्वभौमता की सारी शर्तों को पूरा करने और इस ज़िम्मेदारी को उठाने के लिए तैयार होता दिखता है। तीसरी फिल्म में एक बार फिर विकल्प के तौर पर एक ऐसी अराजकता का चित्रण किया गया है जिससे कि लोग इस कदर डर जायें कि वे पूँजीवादी समाज की दमनकारी, अन्यायपूर्ण और शोषणकारी "स्थिरता" और "सुरक्षा" को ही स्वीकार कर लें। इस फिल्म का मुख्य खलनायक है बेन। बेन 'लीग ऑफ़ शैडोज़' का सदस्य है और वह रास अल गुल की ही पुरानी योजना को अमल में लाने के लिए आता है। लेकिन बाद में पता चलता है कि वह इतनी मेहनत अपने संगठन के विचारों से प्रेरित होकर नहीं बल्कि रास अल गुल की बेटी तालिया से प्रेम की वजह से कर रहा था! यहाँ यह फिल्म यह भी टिप्पणी करती नज़र आती है कि वास्तव में विचारधारात्मक प्रेरण कभी भी लोगों को प्रेरित नहीं करता; कोई न कोई व्यक्तिगत या निजी चाहत ही अन्ततः लोगों को संचालित करती है। बहरहाल, बेन रास अल गुल और जोकर

के विपरीत एक प्रकार का अराजकतावादी विद्रोह संगठित करता है। लेकिन आप पाते हैं कि उसके विद्रोही सिपाही वास्तव में सशस्त्र भाड़े के गुण्डे हैं! उनमें सामान्य मेहनतकश जनता, मजदूर आदि नहीं शामिल हैं! वास्तव में, मेहनतकश जनता और मजदूर वर्ग तो इन तीनों ही फिल्मों में या तो अनुपस्थित है या उसका चित्रण जान बचाने के लिए भागती भीड़ आदि के रूप में ही किया गया है। दूसरी ओर, बेन के अराजकतावादी विद्रोह को इस रूप में चित्रित किया गया है कि उसकी तुलना आप कई ऐतिहासिक घटनाओं से कर सकते हैं, जैसे कि बास्तीय किले पर धावा, बोल्शेविक क्रान्ति के ठीक पहले, उसके दौरान और उसके ठीक बाद फैली “अराजकता” और बुर्जुआ वर्ग की सम्पत्ति की ज़ब्ती आदि, मॉस्को मुकदमे का वह चित्र जो कि पश्चिमी साम्राज्यवादी मीडिया ने बहुप्रचारित किया है और साथ ही ऑक्युपाई वॉल स्ट्रीट आन्दोलन। मिसाल के तौर पर, एक दृश्य में बेन गॉथम की एक मुख्य जेल पर हमला कर डेंट कानूनों के तहत बन्दी बनाये गये कैदियों को छुड़वा लेता है। जो खून की प्यासी भीड़ उस जेल से बाहर आती दिखलायी जाती है उसमें अधिकांश लोग काले, मुलैटो, चिकानो आदि हैं। एक दूसरे दृश्य में बेन को वॉल स्ट्रीट को ऑक्युपाई करते हुए दिखलाया गया है! हालाँकि, यह कब्ज़ा बेन सशस्त्र भाड़े के गुण्डों के अपने गिरोह द्वारा करता है! लेकिन चूँकि ऑक्युपाई वॉल स्ट्रीट जनता के बीच लोकप्रिय आन्दोलन था इसलिए इसके बिम्बों का इस्तेमाल बैटमैन के पक्ष में भी किया जाता है। जैसे कि बैटमैन के प्रतीक की छाया को एक इमारत पर डाला जाना जो कि वास्तव में आपको उस वाक्ये की याद दिलाता है जबकि ऑक्युपाई आन्दोलन के नारे को वेरिज़ॉन वायरलेस की इमारत पर प्रोजेक्ट किया गया था। इस रूप में फिल्म ऑक्युपाई वॉल स्ट्रीट आन्दोलन के एक ख़ास पहलू पर हमला करती है, जिसमें कि दार्शनिक और ऐतिहासिक तौर पर हिंस्र सम्भावना-सम्पन्नता थी। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि इस आन्दोलन में आन्दोलनकारियों द्वारा कोई हिंसा नहीं की गयी थी। लेकिन ‘ऑक्युपाई’ करना राज्यसत्ता के दृष्टिकोण से अपने आप में एक हिंसक कार्रवाई थी जोकि एक संकटग्रस्त, मरणासन्न और खोखले हो चुके शासक वर्ग को भयभीत करने के लिए पर्याप्त है। इसीलिए ऑक्युपाई आन्दोलन के बिम्बों और छवियों पर फिल्म में दोनों पक्षों से दावा पेश किया गया है और बताया गया है कि इस आन्दोलन का हिंस्र पहलू उसी तरह से विपदा लाने वाला है, जिस तरह से बेन गॉथम पर विपदा लाता है। यही कारण है कि वॉल स्ट्रीट पर बेन के हमले को भयावह रूप में चित्रित किया गया है, जो कि किसी भी सम्पत्तिधारी (चाहे वह टुटपूँजिया ही क्यों न हो!) को भयाक्रान्त करने के लिए पर्याप्त है। हालाँकि बेन इस प्रक्रिया में पूँजीवादी सट्टेबाज़ी और बुरे पूँजीवाद पर टीका-टिप्पणी भी करता रहता है, लेकिन इससे उस दृश्य की प्रमुख प्रभावोत्पादकता पर कोई फर्क नहीं पड़ता।

बेन के इस हमले से पैदा होने वाली असुरक्षा ही वह कारक बनती है जो कि अन्त में बैटमैन को सभी लोगों को एक व्यवस्था-समर्थक एकता में बाँधने में कामयाब बनाती है। लोग अराजकतावादी “आज़ादी” के ख़तरों की बजाय पूँजीवादी “सुरक्षा” के इत्मीनान को अपनाते हैं। बेन पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध अराजकतावादी विद्रोह के ज़रिये गॉथम को नष्ट करना चाहता है। गॉथम के लोगों का चित्रण, जैसा कि हमने बताया, एक विशेष प्रकार है जिसमें कि वास्तविक जनता ग़ायब है। जनता या तो लम्पट टुटपूँजिया या लम्पट ग़रीब लोगों के रूप

में सामने आती है, जोकि बेन द्वारा गॉथम के लोगों को “शहर पर अपना दावा पुनः पेश करने की आज़ादी” का लाभ उठाते हुए शहर भर में लूटपाट मचा रहे हैं, या फिर वह पत्रकारों की भीड़ है जो कि बेन द्वारा जेल पर हमले के दौरान भाग रहे हैं। इस तरह से जनता फिल्म में एक आकारहीन और अनिश्चयपूर्ण निकाय है जिसे कि बेन जैसे षड्यन्त्रकारी आसानी से अपनी जुमलेबाज़ी का शिकार बना लेते हैं।

इस फिल्म का खलनायक भी बैटमैन को पूर्ण सार्वभौम बनने की चुनौती देता है और इस रूप में बैटमैन को पूर्ण सार्वभौम बनाने का एक उपकरण है। फिल्म की शुरुआत में ही बैटमैन की सार्वभौमता की कमज़ोरी को दिखलाने के लिए ब्रूस वेन को बीमार, कमज़ोर हो चुके व्यक्ति के रूप में दिखलाया जाता है। और उसके विपरीत लीग ऑफ़ शैडोज़ के मुखिया बेन को दर्शाया जाता है जो अत्यधिक शक्तिशाली है, जो कि किसी भी नैतिकता, नियम और कानून को त्यागने को तैयार है और इस रूप में सार्वभौम की भूमिका को पूर्ण रूप से अपनाने के लिए तैयार है। उसकी यह शक्ति ही उसे बैटमैन को लड़ाई में हराने और बैटमैन की कमर तोड़ने में सक्षम बनाती है। लेकिन वह बैटमैन को मारने की बजाय उस जेल में डाल देता है जिससे भागना नामुमकिन है और जिसमें वह स्वयं था। वहाँ वह बैटमैन को कहता है कि तुम्हें यहाँ पड़े रहकर गॉथम की तबाही देखनी होगी और फिर तुम्हें मेरी ओर से मरने की इजाज़त है। यह एक ओर स्वयं के सच्चे सार्वभौम होने की अभिव्यक्ति है (जबकि अधीनस्थ व्यक्ति का खुद के जीवन पर भी नियन्त्रण नहीं रह जाता) लेकिन साथ ही यह बैटमैन को एक सार्वभौम बनने की चुनौती भी है। यह पूँजीवादी व्यवस्था को एक चुनौती है कि यदि वह सभी प्रकार के बर्जुआ जनवादी बाध्यताओं और नियम-कानूनों का परित्याग करने को तैयार नहीं है तो आने वाले समय में उसका अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा क्योंकि पूँजीवादी समाज अपने भयंकर असमानता, अन्याय और शोषण के साथ हमेशा शान्ति से नहीं चल सकता है। जब बैटमैन इस चुनौती को स्वीकार करता है और जेल में अपनी शक्ति पुनः अर्जित करता है, तो उसके भीतर भी एक बदलाव आता है। अब वह सार्वभौम बनने और उसके लिए सभी नैतिकताओं का परित्याग करने को तैयार है। बैटमैन वापस आकर बेन को हराता है और फिर वही बात बेन को कहता है, ‘अब तुम्हें मेरी ओर से मरने की आज्ञा है।’ तभी बेन की प्रेमिका और रास अल गुल की बेटी तालिया बैटमैन को चाकू भोंक देती है। लेकिन तभी सेलीना काइल बैटमैन की बैट मोबील पर प्रकट होती है और बेन को मार डालती है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि बैटमैन को बेन को अपने हाथों से नहीं मारना पड़ा। बैटमैन का यह कहना ही कि तब तुम्हें मरने की इजाज़त है, यह दिखलाता है कि बैटमैन अब पुराना बैटमैन नहीं रहा। ब्रूस वेन अपनी इच्छा के विपरीत पाता है कि उसे व्यवस्था से इतर होकर व्यवस्था की रक्षा करने की भूमिका यानी कि एक सच्चे सार्वभौम की भूमिका निभानी होगी। लेकिन वह स्वयं इसके लिए तैयार नहीं है। इसलिए अन्त में वह गॉथम को परमाणु बम से बचाते हुए मारे जाने का स्वाँग करता है (या सम्भवतः सच में मारा जाता है क्योंकि बाद में अल्फ्रेड का एक कॉफी हाउस में ब्रूस वेन और सेलीना काइल को एक नयी जिन्दगी जीते हुए देखना एक सपना भी हो सकता है)। पुलिस बल का एक जूनियर ऑफिसर ब्लेक अब नया बैटमैन बनने की प्रक्रिया में दिखलाया जाता है। यानी ब्रूस वेन ने बैटमैन के रूप में पूर्ण सार्वभौम की भूमिका को स्थायी तौर पर अपनाने से इंकार कर दिया है। लेकिन एक पूँजीवादी व्यवस्था को पूर्ण सार्वभौम चाहिए ही होता है। इसलिए बैटमैन ख़त्म नहीं होता। इस पूर्ण

सार्वभौम की भूमिका को अपनाने के लिए ऑफिसर ब्लेक आगे आता है और पुलिस बल से इस्तीफा देते हुए वह पुलिस कमिश्नर गॉर्डन के शब्दों को दुहराते हुए कहता है, “कभी-कभी संरचनाएँ बेड़ियाँ बन जाती हैं।” यह फिल्म का प्रतीकात्मक कथन है और उसका सन्देश है।

इस तरह से यह फिल्म वास्तव में पूँजीवादी व्यवस्था और समाज के शोषण, असमानता और अन्याय को छिपाने का प्रयास नहीं करती क्योंकि ऐसा करना व्यर्थ होगा। इसलिए यह फिल्म पूँजीवादी यथार्थवाद के साथ इस तथ्य को स्वीकार करती है। लेकिन साथ में बेन के रूप में एक छद्म विकल्प को पेश करती है। इस फिल्म त्रयी की हर फिल्म एक छद्म विकल्प पेश करते हुए पूँजीवादी व्यवस्था को एकमात्र सम्भव विकल्प के रूप में पेश करती है और वास्तव में सम्भव विकल्पों का एक ऐसा कैरीकेचर पेश करती है, जो कि जनता की निगाह में उन्हें डिस्क्रेडिट करे। मिसाल के तौर पर, त्रयी की आखिरी फिल्म में, जैसा कि हमने ऊपर बताया, फ्रांसीसी क्रान्ति और रूसी क्रान्ति के बिम्बों का इस्तेमाल जानबूझकर किया गया है। जेल पर बेन का हमला और उसके बाद की अराजकता एक मँडराते हुए संकट का भय पैदा करने वाला दृश्य है। साथ ही, मॉस्को मुकदमे के विषय में साम्राज्यवादी दुष्प्रचार पर आधारित बेन द्वारा चलाये जा रहे जन ट्रिव्यूनल का दृश्य यह दिखलाता है कि जनता न्याय करने में अक्षम है। केवल पूँजीवादी जनवाद की तयशुदा प्रणालियों के ज़रिये ही न्याय सुनिश्चित किया जा सकता है, चाहे वह अधमरा और निहायत देर से मिलने वाला न्याय हो। जनता का द्रुत न्याय भयंकर और भयावह है। बुनियादी सन्देश यह है कि आप उन लोगों पर भरोसा करें जो सत्ता चला रहे हैं, चाहे यह सत्ता कितनी ही दोषपूर्ण क्यों न हो।

साथ ही, चलते-चलते फिल्म एक प्रकार से विकीलीक्स और स्नोडेन के खुलासों पर भी टिप्पणी करती है। फिल्म का यह सन्देश कई दृश्यों में उभरकर सामने आता है कि जनता सत्य के लिए तैयार नहीं है! जनता के सामने यदि सत्य को तत्काल उजागर किया गया तो यह विनाशकारी होगा। और जो ये सच्चाइयाँ उजागर करते हैं, वे दरअसल देशद्रोही और बुरे लोग हैं। मिसाल के तौर पर, गॉर्डन का गुप्त पत्र जो कि यह बताता है कि गॉथम का ‘व्हाइट नाइट’ हार्वी डेंट एक अपराधी बन चुका था, बेन द्वारा जनता के सामने उजागर कर दिया जाता है और नतीजतन पूरी बुर्जुआ व्यवस्था और न्याय पर से ही जनता का भरोसा उठ जाता है और इससे बेन को अवसर मिल जाता है कि वह अपनी आतंकवादी अराजकता फैला सके। साथ ही, ब्रूस वेन का न्यूक्लियर रिएक्टर सूचना लीक होने की वजह से ही बेन के हाथ लग जाता है क्योंकि तालिया बेन को इस रिएक्टर के बारे में बता देती है, जिसे कि ब्रूस वेन अपना साथी मानता था। तालिया की मुखबिरी का नतीजा यह होता है कि बेन उस रिएक्टर को गॉथम को नष्ट करने के लिए एटम बम बनाने में इस्तेमाल करता है। इस प्रकार वह झीना पर्दा उठ जाता है जिसे बैटमैन और कमिश्नर गॉर्डन गिराये रखना चाहते थे, यानी न्याय और जनवाद का वह झीना पर्दा जो पूँजीवादी व्यवस्था की असलियत को छिपाता है। और पूँजीवादी व्यवस्था के इस सत्य के उजागर होने से वह पूरी व्यवस्था ही संकट में पड़ जाती है जो कि अपनी तमाम कमियों के बावजूद एक स्थिरता, सुरक्षा और निश्चितता दे रही होती है; वह सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था जिसकी मानव जाति उम्मीद कर सकती है। इस रूप में बैटमैन फिल्म त्रयी सही मायने में उत्तरआधुनिक फिल्में हैं।

यह संयोग नहीं है कि नोलन बैटमैन त्रयी की अपनी तीसरी फिल्म में चार्ल्स डिकेंस के ‘ए टेल ऑफ टू सिटीज़’ के दृश्यों से प्रभावित दृश्य खड़े करते हैं। स्लावोय जिज़ेक ने

अपनी समीक्षा में दिखाया है कि अल्फ्रेड ब्रूस वेन के अन्तिम संस्कार पर इसी उपन्यास की आखिरी पंक्तियाँ पढ़ता है। वास्तव में, ये तीनों ही फिल्में अच्छे पूँजीपति और बुरे पूँजीपति के बीच के अन्तर को जिस रूप में इस्तेमाल करती हैं, उसे भी डिकेन्सियन कहा जा सकता है। बुरा पूँजीवाद किस प्रकार के विनाशकारी जनविद्रोह की ओर ले सकता है, 'ए टेल ऑफ़ टू सिटीज़' में डिकेन्स इसका वर्णन करते हैं। बैटमैन त्रयी की तीसरी फिल्म में वेन के अराजकतावादी विद्रोह का चित्रण काफी-कुछ वैसा ही है। यहाँ नोलन की उदारवादी चिन्ताएँ भी प्रकट हो रही हैं। नोलन पूँजीपति वर्ग को चेता भी रहे हैं कि इस प्रकार की पतनशीलता अन्ततः घातक हो सकती है। लेकिन चूँकि नोलन भी कहीं न कहीं जानते हैं कि ऐसी चेतावनियों का आदमखोर पूँजीवाद पर कोई विशेष असर नहीं पड़ने वाला है, इसलिए वे साथ में समस्या का एक निदान भी सुझाते हैं जो और कुछ नहीं बल्कि एक शिमटियन पूँजीवादी सार्वभौम ही हो सकता है। लेकिन साथ ही नोलन अराजकतावादी विद्रोह की हिंसा से सभी को भयभीत करना चाहते हैं। वह याद दिलाते हैं कि रॉब्सपियर के 'आतंक के राज्य' में क्या हुआ था! इस रूप में वह हिंसा के प्रश्न को ही वर्गेतर बना देते हैं; जनता की हिंसा का एक ख़ास विकृत चित्रण किया जाता है और राज्यसत्ता की हिंसा को जवाबी हिंसा और कानून, व्यवस्था और शान्ति पुनर्स्थापित करने की हिंसा के रूप में दिखलाया जाता है; यह दिखलाया जाता है कि लोग वेन के अराजकतावादी विद्रोह (के ढोंग) की हिंसा को देखकर सुरक्षा की चाहत में किस प्रकार बैटमैन और पुलिस के साथ एकजुट हो जाते हैं। हिंसा के प्रश्न का यह ट्रीटमेण्ट स्पष्टतः पूँजीवादी व्यवस्था की सतत् जारी हिंसा को अप्रासंगिक बना देता है। जिज़ेक ने मार्क ट्वेन की प्रसिद्ध रचना 'ए कनेक्टिकट यांकी इन किंग आर्थर्स कोर्ट' के इस उद्धरण को पेश करते हुए इस चित्रण पर सही टिप्पणी की है, हालाँकि फिल्म की उनकी कुल आलोचना से सहमत होना थोड़ा मुश्किल है:

“अगर हम याद करें और इस पर विचार करें तो हम पाते हैं कि 'आतंक का राज्य' एक नहीं बल्कि दो हैं; एक वह जो कि उबलते आवेग में ढला हुआ था, और दूसरा जो कि हृदयहीनता और ठण्डेपन से भरा हुआ था...हमारे कंधे मामूली 'आतंक', क्षणिक 'आतंक' की 'भयावहताओं' पर काँप उठते हैं; अगर गौर किया जाय तो कुल्हाड़ी के हाथों अचानक द्रुत मौत भूख, ठण्ड, अपमान, क्रूरता और गहरे शोक के हाथों जीवन भर चलने वाली मौत की तुलना में क्या है? एक शहर का कब्रिस्तान उस संक्षिप्त से 'आतंक' से भरे गये ताबूतों को जगह देने के लिए पर्याप्त है जिसके नाम पर काँप उठने और मातम मनाने के लिए हमें इतनी श्रमसाध्यता के साथ प्रशिक्षित किया गया है; लेकिन उस ज़्यादा पुराने और वास्तविक आतंक के कारण भरे गये ताबूतों के लिए सारा फ्रांस छोटा पड़ेगा, वह अकथ्य रूप से कड़वा और भयंकर आतंक, जिसे उस व्यापकता या करुणा के साथ देखना हममें से किसी को भी नहीं सिखाया गया, जिसका कि वह अधिकारी है।”

मानव इतिहास में किसी भी मुक्तिकामी, वास्तव में मुक्तिकामी प्रक्रिया में कुछ न कुछ बल प्रयोग, आतंक या हिंसा होती ही है। वर्ग समाज का यह अकाट्य ऐतिहासिक सत्य है। यह फिल्म हिंसा की भयावहता को पूँजीवादी परिप्रेक्ष्य से दिखाकर हर प्रकार के मुक्तिकामी जनान्दोलन पर ही चोट करती है और जनता में भी उसके प्रति भय पैदा करती है। इस रूप

में यह फिल्म कई स्तरों पर काम करती है और उसका पूरा बिम्ब-विधान क्रिस्टोफर नोलन ने बड़े ही करीने से रचा है। वैसे तो इस फिल्म में मॉडर्निस्ट स्थापत्य-कला, रंगों के प्रयोग, ध्वनियों और पार्श्व संगीत के प्रयोग पर भी विस्तार से लिखा जाना चाहिए। लेकिन अभी यह हमारे लेख की सीमा से परे है। इस फिल्म में, हम कह सकते हैं, कि नोलन एक सच्चे और उम्दा कंजर्वेटिव कलाकार के समान फिल्म की विधा का सूक्ष्मतम, व्यापकतम और कुशलतम इस्तेमाल करते हैं और इसीलिए यह फिल्म बहुसंस्तरीय है, बहुस्वरीयता से परिपूर्ण है और खतरनाक तरीके से साम्राज्यवादी नवउदारवादी तर्कों का वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास करती है। और यही कारण है कि सुपरहीरो फिल्मों में नोलन की बैटमैन त्रयी एकदम अलग और विस्तृत आलोचनात्मक समीक्षा की माँग करती है। यहाँ हमारा मकसद केवल इस फिल्म की समीक्षा नहीं बल्कि सुपरहीरो फिल्मों की शैली के रूप और अन्तर्वस्तु की आलोचनात्मक पड़ताल था। इसीलिए इस फिल्म की एक बेहद संक्षिप्त और असन्तुष्ट करने वाली समीक्षा हमने यहाँ रखी है।



अन्त में, हम कहना चाहेंगे कि पूँजीवादी आर्थिक व राजनीतिक संकट के दौर में पलायनवादी कल्पनाओं के रूप में और वास्तविक समस्याओं के फ़ैण्टास्टिक समाधान प्रस्तुत कर यथार्थ में अनुपस्थित मूल्यों व अभाव (lack) की एक प्रतिगामी पूर्ति करसुपरहीरो फिल्में समूची पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था की सेवा करती हैं और जनता की पहलकदमी की भावना (वह जिस मात्रा में भी हो या सम्भावना के रूप में हो) को ख़त्म करने और उस पर चोट करने का काम करती हैं। इनमें बैटमैन त्रयी जैसी फिल्में इस कार्य को कई स्तरों पर व्यवस्था के लिए वैधीकरण तैयार करते हुए करती हैं। ये फिल्में छद्म विकल्पों का द्वन्द्व पेशकर जनता के समक्ष एक विकल्पहीनता की स्थिति के पक्ष में राय बनाती हैं और यह यकीन दिलाने का प्रयास करती हैं कि जो है वह सन्तोषजनक नहीं है, लेकिन यही वह सर्वश्रेष्ठ स्थिति है, जिसकी हम उम्मीद कर सकते हैं। ये फिल्में वर्तमान साम्राज्यवाद के कुकर्मों को सूक्ष्म सिनेमैटिक रूपकों के ज़रिये सही ठहराने का प्रयास करती हैं। साथ ही, ऐसी तमाम फिल्में समाज में किसी उबरमेंश की वांछनीयता के लिए स्वीकार्यता बनाकर प्रतिक्रिया की ज़मीन भी पैदा करती हैं। यह संयोग नहीं है कि तमाम दक्षिणपंथी और फासीवादी राजनीति के नेताओं को राजनीतिक प्रचार अभियानों के दौरान सुपरमैन, बैटमैन, आयरन मैन या किसी और सुपरहीरो के रूप में पेश किया जाता है जो कि अपनी निर्णायकता, द्रुत और हिंस्र न्याय, आदि के ज़रिये सबकुछ ठीक कर सकता है। इनमें से एक-एक फिल्म की व्यापक और सूक्ष्म आलोचना की आवश्यकता है और जनपक्षधर सांस्कृतिक आलोचकों को यह कार्य हाथ में लेना चाहिए। वैसे तो दुनिया के सबसे बड़े साम्राज्यवादी संस्कृति उद्योग हॉलीवुड के हर उत्पाद की ही करीबी से आलोचनात्मक पड़ताल की जानी चाहिए।

पूँजीवाद में विज्ञापनों की विचारधारा और पूँजीवादी विचारधारा का विज्ञापन

● शिवानी

टेलीविज़न, इण्टरनेट, अख़बार आदि में विज्ञापन तो आप ज़रूर देखते होंगे चाहे आपको यह कितना ही नापसन्द क्यों न हों। रेडियो पर सुनते भी होंगे। आज के इन विज्ञापनों को देखकर और सुनकर बरबस ही एक विचार दिमाग में आता है। यदि शेली, बायरन, कीट्स आदि जैसे उन्नीसवीं शताब्दी के छायावादी (रोमाण्टिक) कवि समकालीन पूँजीवाद के समवर्ती होते तो खुद को शायद एक गीति-रचना (ode) लिखने से नहीं रोक पाते, जिसका शीर्षक कुछ इस तरह का हो सकता था— 'विज्ञापन: पूँजीवाद के लिए एक क़सीदा' (Advertise-ment: An ode to capitalism)

अगर आलोचनात्मक दृष्टि से इन विज्ञापनों पर गौर किया जाय तो बरबस ही यह सवाल ज़ेहन में उठता है—आज टेलीविज़न पर आनेवाले हर विज्ञापन को देखकर क्या ऐसा ही नहीं लगता कि हर तीस सेकण्ड में ये विज्ञापन—चाहे वे किसी भी सामान, उत्पाद या सेवा का हो—उस सामान, उत्पाद या सेवा से ज़्यादा स्वयं पूँजीवाद का ही अतिरंजित और उत्साहपूर्ण स्वर में प्रस्तुत किया गया महिमामण्डन हैं? ये सभी विज्ञापन 'आग्रहपूर्ण' स्वर में हमसे कोई न कोई सामान या सेवा खरीदने की बात तो करते ही हैं, लेकिन साथ ही अपने द्वारा इस्तेमाल की गयी छवियों, बिम्बों, दृश्यों, बातचीत, ध्वनियों आदि के ज़रिये ये विज्ञापन एक ही बात हमारे गले से नीचे उतारने की कोशिश में लगे रहते हैं—'पूँजीवाद की जय हो', 'माल अन्धभक्ति की जय हो', 'पूँजीवादी प्रतिस्पर्द्धा की जय हो', 'उदार बुर्जुआ जनतंत्र की जय हो'। इस मायने में, विज्ञापन महज़ सामानों, मालों, उत्पादों और सेवाओं की 'मार्केटिंग' का उपक्रम नहीं है बल्कि पूरा का पूरा विज्ञापन उद्योग ही स्वयं पूँजीवाद का विज्ञापन है। बल्कि कहना चाहिए कि यह उसका सबसे बड़ा, सबसे कुशल और आज के समय में तो सबसे

व्यापक प्रचार केन्द्र है। विज्ञापन पूँजीवादी जीवन शैली, पूँजीवादी संस्कृति, पूँजीवादी बाज़ार अर्थव्यवस्था, पूँजीवादी परिवार, पूँजीवादी राजनीति, पूँजीवादी प्रेम, पूँजीवादी अन्तरवैयक्तिक सम्बन्धों, पूँजीवादी मूल्य-मान्यताओं, पूँजीवादी दृष्टिकोण के जश्न के लिए स्वयं पूँजीवाद द्वारा उठाया गया वह जाम (toast) है, जो पूँजीवाद की ही दीर्घायु की कामना करता है और हर तीस सेकण्ड पर इसका जश्न मनाता प्रतीत होता है। इस रूप में, 'एडवर्टाइजिंग' पूँजीवाद का स्वयं पूँजीवाद द्वारा चलाया जानेवाला 'प्रमोशनल कैम्पेन' है। एक ऐसा प्रचार अभियान जिसकी कोई मियाद नहीं है; जिसमें उत्पाद बदल सकते हैं, उनकी प्रस्तुति बदल सकती है, लेकिन सारतत्व वही रहता है—पूँजीवाद का यशोगान। इस सन्दर्भ में विज्ञापन उद्योग का स्लोगन वाक्य बस यही प्रतीत होता है—'थैंक गॉड इट्स कैपिटलिज़्म' (भगवान का शुक्र है कि पूँजीवाद है)!

वैसे तो आज के दौर में विज्ञापन उद्योग के बगैर पूँजीवाद की कल्पना करना असम्भव-सा लगता है, लेकिन फिर यह कहना ज़्यादा सही होगा कि स्वयं पूँजीवाद ही विज्ञापन उद्योग की मौजूदगी के बिना अकल्पनीय प्रतीत होने लगता है। एक प्रतिस्पर्द्धी बाज़ार अर्थव्यवस्था में निजी माल उत्पादकों/पूँजीपतियों के लिए अपने सामानों-सेवाओं के लिए ख़रीदारों के वर्ग तक पहुँच बनाना और उससे भी ज़्यादा उन सामानों-सेवाओं के लिए उपभोक्ताओं के इस वर्ग में चाहत (desire) पैदा करना विज्ञापनों के ज़रिये ही सम्भव हो सकता है। इसलिए विज्ञापन यत्र-तत्र-सर्वत्र हैं—टेलीविज़न, रेडियो, अख़बार, पत्र-पत्रिकाएँ, इण्टरनेट, सड़कों के किनारे लगे बिलबोर्ड, बस-स्टॉपों और रेलवे स्टेशनों पर लगी प्रचार पट्टियाँ; जहाँ भी नज़र दौड़ाइये, विज्ञापन ही विज्ञापन, प्रचार ही प्रचार। विज्ञापनों की पहुँच इतनी व्यापक है कि विश्व का शायद ही ऐसा कोई कोना हो जो इनके प्रभाव से अछूता रहा हो। विज्ञापन इस मायने में पूँजीवादी प्रचारतंत्र की एक विशिष्ट परिघटना है, जो बेहद विचारधारात्मक है, जो महज वस्तुओं और सेवाओं की मार्केटिंग का औज़ार मात्र नहीं हैं, बल्कि एक ख़ास तरीके से चीज़ों को देखने और सोचने का नज़रिया देता है; जो मासूमियत से भरकर और परमार्थ से प्रेरित होकर लोगों को बेहतर उपभोक्ता चयन (consumer choice) प्राप्त करने में मदद नहीं करता (जैसा कि तमाम 'एड गुरु' और एडवर्टाइजिंग एजेन्सियाँ दावा करती हैं) बल्कि एक ख़ास तरीके से पूँजीवाद और पूँजीवादी जीवनशैली के समर्थन में 'ओपीनियन बिल्डिंग' करता है। इस लिहाज़ से, सिर्फ पूँजीवादी अर्थतंत्र में अपनी भूमिका की दृष्टि से ही नहीं बल्कि पूँजीवादी समाज में शासक वर्गों द्वारा इस्तेमाल में लाये जानेवाले विचारधारात्मक-सांस्कृतिक औज़ार के रूप में भी विज्ञापनों के पीछे की राजनीति को समझना आवश्यक हो जाता है। विज्ञापनों की सर्वव्याप्ति इस तथ्य का ही प्रमाण है कि विज्ञापन उद्योग पूँजीवाद का एक सशक्त विचारधारात्मक उपकरण तो है ही, साथ ही इसका एक वर्चस्वकारी सांस्कृतिक उत्पाद भी है।

पूँजीवादी प्रचार जगत : एक अतिसंक्षिप्त ऐतिहासिक सन्दर्भ

पूँजीवादी अर्थतंत्र के अर्थों में बात करें तो पूरे विज्ञापन उद्योग का आकार ही कई खरब डॉलर का है। अगर भारत की बात करें तो वर्तमान में विज्ञापन उद्योग तकरीबन 100,000 करोड़ रुपये का कारोबार है जिसके 2017 तक 1,66,000 करोड़ रुपये तक पहुँच जाने की सम्भावना है। जहाँ तक अमेरिका का सवाल है तो 2010 में विज्ञापनों पर होनेवाला खर्च 143 खरब डॉलर था और पूरे विश्व में यह आँकड़ा 467 खरब डॉलर था। 2015 में पूरे विश्व में विज्ञापनों पर होनेवाला कुल खर्च 592.43 खरब डॉलर तक पहुँच गया। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बात करें तो इण्टरपब्लिक, ऑमनिकॉन, पब्लिसिस और डब्ल्यू.पी.पी. चार सबसे बड़े विज्ञापन समूह

(conglomerate) हैं। इनके अलावा, 'ओगिलवाई एण्ड मैथर', 'जे वॉल्टर थॉमसन', 'मैककेन एरिकसन' जैसी कई राष्ट्रपारीय एजेंसियाँ आज विज्ञापन उद्योग में लगी हुई हैं। स्पष्टतः आज के पूँजीवादी विश्व में, विज्ञापन उद्योग पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का एक बेहद जरूरी हिस्सा बन चुका है। इस हद तक जरूरी कि अधिकांशतः विज्ञापनों और प्रचार में होनेवाले पूँजी निवेश का प्रतिशत स्वयं माल उत्पादन में लगी पूँजी से कई गुना अधिक होता है। यह तथ्य अपने आप में पूँजीवाद में विज्ञापनों के महत्व के बारे में काफी कुछ बता देता है और साथ ही आज पूँजीवाद के अभूतपूर्व रूप से अनुत्पादक हो चुके चरित्र को भी दिखलाता है। फिर भी पूँजीवाद के वर्तमान दौर में विज्ञापन उद्योग की भूमिका को समझने के लिए इसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अवस्थित करना आवश्यक है।

मोटे तौर पर बात करें तो विज्ञापन तब से ही मौजूद रहे हैं जबसे व्यापार है। इसलिए ऐसा कहना कि प्राक्-पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में विज्ञापनों का कोई स्थान नहीं था या फिर विज्ञापन पूँजीवाद की देन हैं, गलत होगा। हाँ, इतना जरूर है कि आज जिस रूप में हम विज्ञापनों को जानते हैं, उस रूप में और इस पैमाने पर वे कभी अस्तित्वमान नहीं थे। पूँजीवाद-पूर्व समाजों में तमाम व्यापारी अपने सामानों की खूबियों और ख़ासियत को इशतेहारों के ज़रिये ही बताते थे। अखबारों या यूँ कहें कि प्रिण्ट संस्कृति के जन्म से पहले, दुकानों, पेड़ों, चौराहों पर लगे साइनबोर्ड ही आम तौर पर विज्ञापनों के माध्यम थे। लेकिन प्रिण्ट संस्कृति के आने के बाद यह पूरा परिदृश्य ही बदल गया। अब विज्ञापन अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं, जर्नलों में छपने लगे।

जहाँ तक आधुनिक विज्ञापन उद्योग का प्रश्न है तो वह उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक पूँजीवाद के सहवर्ती के तौर पर अस्तित्व में आया। औद्योगिक पूँजीवाद और बाज़ार द्वारा संचालित अर्थव्यवस्था के अस्तित्व में आने के साथ ही बड़े पैमाने पर माल उत्पादन की शुरुआत हुई। पूँजीवाद ने सामाजिक-आर्थिक जीवन का पूरा ताना-बाना ही बदल दिया। हर जगह माल, उत्पाद और वस्तुएँ थीं। लेकिन मालों के असीमित भण्डार का उत्पादन ही पर्याप्त नहीं था, बल्कि सामानों के इन अपरिमित भण्डारों का बिकना भी एक अहम सवाल था। पूँजीवाद के अन्तर्गत मालों के उत्पादन के साथ ही उनका वितरण, विनिमय और उपभोग के सर्किट से गुजरना भी जरूरी होता है ताकि पूँजीपति मुनाफ़ा कमा पायें, पूँजी संचय कर पायें और उत्पादन में पुनःनिवेश कर सकें। इसलिए एक प्रतिस्पर्द्धी बाज़ार में अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए पूँजीपतियों को किसी भी कीमत पर मालों की बिक्री को सुनिश्चित करना पड़ता है। हालाँकि यह हर समय सम्भव नहीं हो पाता है या यूँ कहें कि पूँजीवाद के अन्तर्गत यह हमेशा सम्भव हो ही नहीं सकता है (चूँकि पूँजीवाद अपनी नैसर्गिक आन्तरिक गतिकी और तर्क से उत्पादन को असीमित रूप से बढ़ाता है और उत्पादन के साधनों पर निजी नियन्त्रण व अधिशेष के निजी विनियोजन तथा उत्पादन के सामाजिक चरित्र का अन्तरविरोध असमाधेय हो जाता है; साथ ही पूँजीवादी व्यवस्था बहुसंख्यक आबादी का दरिद्रीकरण करके ऐसी दयनीय स्थिति में पहुँचा देता है कि उसके पास माल का खरीदार बनने की क्षमता ही नहीं रह जाती है)। इसलिए मन्दी, अर्थव्यवस्था में ठहराव और परिणामस्वरूप दुकानों पर 'सेल' की घोषणा करते बोर्ड पूँजीवाद की एक आम सच्चाई है, पूँजीपतियों और पूँजीवाद के लिए उपभोग का प्रश्न इसलिए केन्द्रीय प्रश्न बन जाता है।

बहरहाल, 19वीं शताब्दी में औद्योगिक पूँजीवाद के अस्तित्व में आने के साथ ही संस्थाबद्ध विज्ञापन उद्योग का जन्म हुआ जिसका मकसद न केवल मालों और उत्पादों की बिक्री सुनिश्चित कराने के लिए खरीदारों को उनके बारे में बताना था, बल्कि उससे भी ज़्यादा मालों या उत्पादों

के लिए उपभोक्ताओं में चाहत या इच्छा या एक आभासी ज़रूरत को पैदा करना था। यही कारण है कि 20वीं शताब्दी के शुरू होते-होते विज्ञापन एक सम्पूर्ण उद्योग के रूप में अस्तित्व में आया और इसकी सबसे उर्वर जमीन अमेरिका बना। विज्ञापन एजेंसियाँ अस्तित्व में आयीं, विज्ञापनों को किस तरह से प्रभावशाली बनाया जाये इसके गुर पाठ्यक्रमों में सिखाये जाने लगे। बड़े-बड़े पूँजीपतियों और विशालकाय कॉरपोरेट घरानों ने अपनी पूँजी का एक अच्छा-खासा हिस्सा इन प्रचार कार्रवाइयों में निवेश किया। आज के दौर में तो न सिर्फ विज्ञापनों में लगने वाली पूँजी बल्कि उनको बनाने में लगने वाला बौद्धिक, शोधात्मक और रचनात्मक प्रयास भी अप्रत्याशित है।

लेकिन ऐसा भी नहीं है कि तब से लेकर अब तक विज्ञापनों की अन्तर्वस्तु और कार्यप्रणाली में कोई परिवर्तन न आया हो। शुरुआती दौर में किसी भी उत्पाद के विज्ञापन में पहले स्वयं उत्पाद ही केन्द्र में हुआ करता था। विज्ञापन में उत्पादों के गुणों पर, उनकी बनावट, उनके उपयोग, कीमत, फायदों पर खासा जोर हुआ करता था, जिसे उत्पाद-सूचना (product information) मॉडल की संज्ञा दी गयी है। लेकिन 1930 के दशक के आते-आते विज्ञापनों की कार्यप्रणाली में एक महत्वपूर्ण 'शिफ्ट' आता है। उत्पाद-सूचना मॉडल की जगह बड़े पैमाने के प्रतिस्पर्द्धी विज्ञापनों ने ले ली जिनका जोर उत्पाद कल्पना/बिम्ब-सृष्टि (product imagery) और उत्पाद के व्यक्तित्व (product personality) पर था। इस तरह के विज्ञापनों में मालों/सामानों/उत्पादों को प्राकृतिक या सामाजिक सेटिंग के बीच दिखाया जाने लगा। उदाहरण के लिए, किसी बागीचे में, किसी घर के अन्दर या उच्चवर्गीय लोगों की पार्टी में, आदि। ऐसा इसलिए किया गया ताकि इन सन्दर्भों से जुड़े अर्थ और मूल्य इन मालों/उत्पादों पर आरोपित किये जा सकें। इसी प्रकार उत्पाद व्यक्तित्व वाले विज्ञापनों में व्यक्तियों से जुड़ी व्यक्तिगत विशेषताओं को माल के गुणों के समतुल्य माना जाने लगा। आज हम इसे ही 'ब्राण्डिंग' के नाम से जानते हैं, जिसमें उपभोक्ताओं के मस्तिष्क में किसी उत्पाद के नाम या छवि से स्वतः ही कुछ विशिष्टताएँ जुड़ जाती हैं। हालाँकि यह कितना स्वतः होता है, यह हम भली-भाँति जानते हैं। बार-बार, दिन में न जाने कितनी बार एक ही विज्ञापन की पुनरावृत्ति हमारे जेहन में इन बातों को लगातार रेखांकित करती चलती है। संक्षेप में कहें तो जहाँ 19वीं शताब्दी के अन्त और 20वीं शताब्दी के शुरुआती वर्षों में विज्ञापन मालों के गुणों के बारे में बात करते थे, जैसे कि वे क्या-क्या कर सकते हैं या फिर कितने अच्छे तरीके से कोई काम कर सकते हैं आदि; वहीं 1920 के बाद से विज्ञापन सामानों और मालों को लोगों के सामाजिक जीवन और उससे सम्बद्ध आकांक्षाओं और इच्छाओं से जोड़ रहे थे। लोग जिस किस्म के सामाजिक जीवन की इच्छा रखते थे-बिना किसी असुरक्षा और अनिश्चितता के, सुकून, आज़ादी और सुख से भरी ज़िन्दगी-वस्तुओं को उसी जीवन की प्रभावशाली छवियों से जोड़कर पेश किया जाने लगा। जो जीवन पूँजीवाद लोगों को वास्तविक जीवन में मुहैया नहीं करा सकता था, उसे विज्ञापनों में मालों के उपभोग द्वारा सम्भव दिखाया जाने लगा। यह एक फन्तासी की दुनिया रचने जैसा है-एक 'एस्केप रूट' जिसमें हमें एक ऐसी दुनिया का सपना दिखाया जाता है, जिसमें हम वस्तुओं के उपभोग से हर खुशी पा सकते हैं। विज्ञापन इसी सपने को हमारी चाहत में बदलने का काम करते हैं। और फिर इन्हीं विज्ञापनों के माध्यम से हमें बताया जाता है कि यह चाहत अधिक से अधिक सामानों के उपभोग से पूरी हो सकती है।

इस मायने में विज्ञापन उद्योग पूँजीवाद का एक बेहद खतरनाक, सूक्ष्म और निपुण विचारधारात्मक हथियार है, जो लोगों को पूँजीवादी उपभोक्ता संस्कृति का अभ्यस्त बनाता है और बेहद वर्चस्वकारी तरीके से अपने हिसाब से चीज़ों को देखने का आदी बनाता है। लोग अनालोचनात्मक तरीके से इस तर्क से सहमत होने लगते हैं कि सामानों और मालों के अधिकाधिक

संचय में ही खुशहाल जीवन का मंत्र है, हालाँकि यहाँ एक बात जोड़ देनी विशेष तौर पर आवश्यक है। विज्ञापनों के लिए और स्वयं पूँजीवाद के लिए 'उपभोक्ता' की अवधारणा वर्ग-आधारित और वर्गीकृत है और इसकी परिभाषा में मेहनत-मशक्कत करने वाली वह बहुसंख्यक आबादी आती ही नहीं है जो कि उन सामानों/मालों के इस अम्बार की सर्जक है जिनका कि प्रचार ये सभी विज्ञापन करते हुए नज़र आते हैं। यही कारण है कि जहाँ पहले के विज्ञापन बड़े पैमाने पर उत्पादित मालों के बाज़ार के तौर पर एक अविभाजित उपभोग करने वाली जनता को देखते थे; वहीं आज के दौर में विज्ञापनों के द्वारा विशिष्ट उत्पादों के 'ब्राण्ड्स' के लिए उपभोक्ताओं के विशेष वर्गों/खण्डों को लक्षित किया जा रहा है और इसके लिए कई सूक्ष्म और चालाक तिकड़में भिड़ायी जा रही हैं। इसलिए आज टेलीविज़न पर आने वाले तमाम विज्ञापनों में हमें खाँटी मज़दूर आबादी या तो नज़र ही नहीं आती या फिर आती भी है तो उच्चवर्गीय या मध्यमवर्गीय सन्दर्भों के परिशिष्ट या पिछलगुए के तौर पर। मज़दूर वर्ग, एक वर्ग के तौर पर तो पूँजीवादी विचारधारा का भरण-पोषण करने वाले इन विज्ञापनों से नदारद ही है या फिर वह इन विज्ञापनों में उन खुशहाल उपभोक्ताओं की चैरिटी का दयनीय लाभ-प्राप्तकर्ता बनता नज़र आता है जो कि अमुक उत्पाद के उपभोग से समृद्ध और प्रसन्न हुए हैं। इसके कारण के तौर पर इसके सचेतन, अचेतन या अवचेतन तौर पर होने पर बहस अनुत्पादक होगी। बात है कि जिस दृष्टिकोण और अवस्थिति से ये विज्ञापन बनाये जा रहे हैं वह इस बात की अनुमति देता ही नहीं है। विज्ञापन भी किसी भी सांस्कृतिक उत्पाद के समान इसी पूँजीवादी संस्कृति उद्योग के एकलसंस्कृतिकरण के उपकरण हैं और वे भी प्रभुत्वशाली विचारधारात्मक राज्य उपकरण में जड़ित हैं। ये एक बुर्जुआ सब्जेक्ट का निर्माण करते हैं; यही इनका प्रकार्य है।

अगर आज विज्ञापनों पर हम निगाह डालें तो क्या पाते हैं? हम देखते हैं कि तमाम पूँजीपतियों द्वारा अपने उत्पादों या सेवाओं को उपभोक्ता (जो कि आम तौर पर उच्चवर्गीय या मध्यमवर्गीय पृष्ठभूमि से आता/आती है) को बेचने के लिए विज्ञापनों द्वारा प्रचार किया जाता है। ये विज्ञापन उपभोक्ता को बताते हैं कि जीवन का असली आनन्द लेने के लिए वस्तुओं का उपभोग न केवल सम्माननीय है बल्कि वाँछित भी है। 1929 में अमेरिकी पूँजीवाद की एक प्रवर्तक क्रिस्टीन फ़्रेडरिक ने उपभोक्तावाद को अमेरिका द्वारा दुनिया को निर्यात किया गया महानतम विचार बताया जिसके तहत मेहनतकश जनता को महज़ मज़दूरों और उत्पादकों के तौर पर नहीं बल्कि उपभोक्ताओं के रूप में देखा जाने लगा। हालाँकि फिर स्वयं पूँजीवाद ही मज़दूरों से उपभोक्ता बनने की यह 'काबिलियत' छीन भी लेता है, और उन्हें दरिद्रीकरण और बदहाली के गर्त में धकेलता जाता है। इस रूप में मज़दूरों को उपभोक्ता बनने की चाहत से महरूम करने का काम खुद पूँजीवाद ही कर देता है। बहरहाल, एक ओर पूँजीवाद जहाँ मनुष्य को उपभोक्ता (भले ही बहुसंख्यक आबादी को इस 'योग्यता' से वंचित करने की शर्त पर) में तब्दील कर देता है, वहीं विज्ञापन उद्योग उस उपभोक्ता को बताता है कि कैसे अधिक से अधिक सामानों के उपभोग द्वारा वह एक अच्छा, स्मार्ट और आधुनिक उपभोक्ता बन सकता है। उदाहरण के लिए, फ़्लॉ ब्राण्ड का डिप्योडरेण्ट इस्तेमाल करने से आप कैसे लड़कियों में लोकप्रिय हो सकते हैं, या फिर अमुक ब्राण्ड की वॉशिंग मशीन इस्तेमाल करने से आप कैसे एक आधुनिक गृहिणी बन सकती हैं, आदि। विज्ञापन उपभोक्ता को बताने की कोशिश करते हैं कि उसकी हर सामाजिक चिन्ता और निजी असफलता का इलाज वस्तुओं के उपभोग में छिपा है। इस रूप में विज्ञापन उपभोक्ताओं की अभिरुचियों को गढ़ने में प्रभावशाली भूमिका अदा करते हैं। कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि विज्ञापन उपभोक्ताओं को एक भोण्डी भोगवादी जीवन शैली सिखाते

हैं और उसका महिमामण्डन करते हैं।

पूँजीवाद विज्ञापनों द्वारा माल अन्धभक्ति (commodity fetishism) को एक नये मुकाम पर पहुँचा देता है। बार-बार लगातार विज्ञापनों के ज़रिये उपभोक्ताओं को यह बताने का प्रयास किया जाता है कि यदि उनके पास अमुक सामान नहीं है तो वे जिन्दगी में कितना कुछ 'मिस' कर रहे हैं। बार-बार लगातार यह बताया जाता है कि सुखी-सन्तुष्ट जीवन का एकमात्र रास्ता बाज़ार के ज़रिये वस्तुओं का उपभोग है; केवल माल और सामान ही लोगों को खुशी और सामाजिक रुतबा प्रदान कर सकते हैं। बिना किसी अपवाद के हर विज्ञापन का यही स्पष्ट सन्देश होता है—चाहे वह विज्ञापन किसी कार कम्पनी का हो या किसी बीमा कम्पनी का, किसी सौन्दर्य प्रसाधन का ब्राण्ड हो या फिर किसी शराब या मोबाइल फोन की कम्पनी का; यही सन्देश बार-बार रेखांकित किया जाता है। सामानों, वस्तुओं, मालों को प्रसन्नता, आज़ादी, सुरक्षा, समृद्धि और रुतबे का समतुल्य बना दिया जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विक्टर लिबोव नामक एक खुदरा व्यापार विश्लेषक ने इस सोच को कुछ इन शब्दों में व्यक्त किया, "हमारी बेहद उत्पादक अर्थव्यवस्था यह माँग करती है कि हम उपभोग को तौरे-जिन्दगी बना दें, कि हम सामानों के बेचने और ख़रीदने के काम को रस्मो-रिवाज़ में तब्दील कर दें, कि हम आत्मिक सन्तुष्टि और अपने अहं की तुष्टि को मालों में ढूँढ़ें—सामानों का लगातार बढ़ती दर से उपभोग किया जाना, जला दिया जाना, जर्जर हो जाना, प्रतिस्थापित किया जाना, और फेंक दिया जाना हमारी ज़रूरत है।" पूँजीवादी अर्थतंत्र के तर्क को इन महाशय ने जितनी सुष्पटता, बेलाग-लपेट ओर नंगे तरीके से रखा है, वही तर्क आज विज्ञापन उद्योग हर 30 सेकण्ड में चीख-चीखकर कर बोल रहा है।

विज्ञापनों की प्रभावकारिता सम्बन्धी कुछ बिखरे-बिखरे प्रेक्षण

फिर सवाल उठता है कि आखिरकार विज्ञापन इतने प्रभावशाली क्यों होते हैं? पहला कारण जो दिमाग में आता है वह है दुहराव। एक 30 सेकण्ड का विज्ञापन लगातार दुहराव के ज़रिये लोगों के मस्तिष्क पर निरन्तरता के साथ प्रभाव छोड़ता रहता है। दिन में सैकड़ों बार आनेवाले ये विज्ञापन इतनी सूक्ष्मता और गहराई से काम करते हैं कि हमें पता भी नहीं चलता कि हम कहीं न कहीं अवचेतन तौर पर उन मूल्यों से 'रिलेट' करने लगते हैं जिनका प्रचार इन विज्ञापनों में हो रहा होता है। विज्ञापनों में दर्शायी गयी मूल्य-व्यवस्था (value system) को सहज बोध (common sense) में तब्दील कर दिया जाता है और हम उनमें यकीन करने लगते हैं। हम जाने-अनजाने उनके अनुरूप बर्ताव भी करने लगते हैं, एक बार भी उस पर सवाल खड़ा किये बिना। हम कब विज्ञापनों में इस्तेमाल किये जानेवाले जिंगल गुनगुनाने लगते हैं या फिर उनके स्लोगन और टैगलाइन दोहराने लगते हैं; हमें पता भी नहीं चलता।

दूसरा, विज्ञापन इस रूप में भी प्रभावी हैं कि वे हमसे किसी किस्म की सक्रिय भागीदारी (involvement) की माँग नहीं करते हैं। विज्ञापनों को देखते वक्त न तो आपको अपने समय का ही और न ही भावनाओं का ही निवेश करना पड़ता है। टी.वी. पर विज्ञापन चलते रहते हैं, आप अपना काम भी करते रहते हैं, और विज्ञापन भी इसी बीच अपना काम करते रहते हैं। एक-दो घण्टे लम्बी फिल्म या एक-डेढ़ साल तक चलने वाला सोप ऑपेरा आप से लगातार सक्रिय भागीदारी और निवेश की माँग करता रहता है। इस रूप में विज्ञापन अन्य पूँजीवादी प्रचार माध्यमों से ज़्यादा प्रभावशाली और वर्चस्वकारी हैं। जो काम दो घण्टे की फिल्म नहीं कर सकती वह एक 30 सेकण्ड का विज्ञापन कर देता है।

तीसरा, विज्ञापन महज़ सामानों/उत्पादों की मार्केटिंग का माध्यम मात्र नहीं है बल्कि पूँजीवाद

का एक सांस्कृतिक उत्पाद भी है। और इस रूप में भी विज्ञापनों का असर लम्बे समय तक बना रहता है। इस मायने में विज्ञापनों का महत्व और उनकी ताकत इस बात में निहित है कि उनका प्रभाव आर्थिक तो होता ही है लेकिन उससे कहीं अधिक सांस्कृतिक और विचारधारात्मक होता है। यह उपभोक्ताओं के खरीदारी से जुड़े लघुकालिक फैसलों को जितना प्रभावित करता है, उससे कहीं ज्यादा उनके विचारों और दीर्घकालिक व्यवहार पर असर छोड़ता है।

विज्ञापन प्रभुत्वशाली पूँजीवादी विचारधारा को बनाये रखने में भी अहम सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिका निभाते हैं। इसके अलावा, विज्ञापन पूँजीवादी संस्कृति, मूल्य-मान्यताओं और तौर-तरीकों को उत्पादित और पुनरुत्पादित करने का 'लोकेशन' भी है। लेकिन इसके साथ ही यह पलटकर तमाम सांस्कृतिक मूल्यों को खुद भी प्रभावित करता है और सामाजिक भूमिकाओं को नये तरीके से परिभाषित करता है। उदाहरण के लिए, जहाँ एक ओर विज्ञापनों में स्त्रियों को परम्परागत, जेण्डरगत भूमिकाओं के तहत घर के भीतर की ज़िम्मेदारियों का निर्वाह करते हुए पेश किया जाता है और पुरुषों को बाहर की ज़िम्मेदारियाँ उठाते हुए दिखाया जाता है, वहीं दूसरी ओर विज्ञापनों में ये सामाजिक भूमिकाएँ एक नये अन्दाज़ में भी पेश की जाती हैं। अब एक औरत घर की ज़िम्मेदारी उठाने के साथ-साथ बाहर भी काम करती हुई दिखायी जाती है, लेकिन वह यह 'मल्टी टास्किंग' तमाम तरह के उत्पादों और सामानों की मदद से कर पाती है, इसलिए वह एक "सुपर मॉम" है, एक नये किस्म की आधुनिक स्त्री है, क्योंकि वह चतुराई से सामानों का उपभोग करना जानती है।

इसके अलावा, तमाम तरह के विज्ञापन हमें पूँजीवाद के मूलमंत्र यानी कि पूँजी संचय, बचत और निवेश की हिदायत देते रहते हैं। इन विज्ञापनों में बेशर्मी के साथ बच्चों का इस्तेमाल किया जाता है जो अपने माँ-बाप, दादा-दादी आदि को बचत करने की सलाह देते हुए दिखाये जाते हैं। विज्ञापन हमारे भय और चिन्ताओं का इस्तेमाल जमकर करते हैं। वास्तविक जीवन में व्याप्त भय और असुरक्षा की भावनाओं को (जो कि स्वयं पूँजीवाद की 'नेमत' है) विज्ञापनों द्वारा खुलकर भुनाने की कोशिश की जाती है।

विज्ञापन उद्योग अपना सारा ध्यान और समस्त ऊर्जा मध्यवर्ग पर केन्द्रित करता है, क्योंकि एक मॉडल और आदर्श उपभोक्ता वही हो सकता है। इसके साथ ही विज्ञापन फन्तासी और एक आभासी यथार्थ की निर्मिति भी करते हैं। जिस सुख और सुरक्षा का अभाव वास्तविक जीवन में है, उसकी भ्रामक छवियाँ विज्ञापनों में सर्वविद्यमान हैं। यह अन्तरविरोध हर क्षण सक्रिय रहता है। साथ ही विज्ञापनों में यथार्थ का चयनात्मक चित्रण किया जाता है। और कहीं-कहीं तो यथार्थ को सर के बल ही खड़ा कर दिया जाता है। विज्ञापनों का संसार आम तौर पर वास्तविक संसार से मेल नहीं खाता है।

जहाँ तक विज्ञापनों में स्त्रियों के चित्रण का प्रश्न है तो उन्हें माल या उत्पाद से जुड़े हुए सम्बद्ध माल (associated commodity) के रूप में ही चित्रित किया जाता है। स्त्रियों का मालकरण/वस्तुकरण पूँजीवाद जिस तरीके से करता है, उसकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति एक धरातल पर विज्ञापनों में प्रतिबिम्बित होती है। जिन उत्पादों के विज्ञापन में औरतों की आम तौर पर कोई ज़रूरत नहीं होती, उन विज्ञापनों में भी ज़बर्दस्ती स्त्रियों को रखा जाता है; मिसाल के तौर पर पुरुषों के अण्डरवियर या शेविंग क्रीम के विज्ञापन में स्त्रियों का क्या काम है? मुख्यतः विज्ञापनों में स्त्रियों का चित्रण दो रूपों तक ही सीमित है—या तो घरेलू जीवन/संसार के भीतर या फिर यौन इच्छा की वस्तु के रूप में।

विज्ञापनों में मालों के सौन्दर्यीकरण और कला एवं सौन्दर्यशास्त्र के मालकरण का अभूतपूर्व

मेल देखा जा सकता है। विज्ञापनों में सौन्दर्यशास्त्र की सबसे उन्नत तकनीकों का इस्तेमाल न सिर्फ मालों को सुन्दर और वांछनीय बनाकर उन्हें बेचने के लिए किया जाता है, बल्कि उपभोक्तावाद को एक तौरे-जिन्दगी के रूप में अपनाते के प्रचार के लिए भी किया जाता है।

विज्ञापन पूँजीवादी व्यक्तिवाद से जुड़ी छवियों को एक आदर्श के रूप में पेश करते हैं। इन छवियों में व्यक्तिगत गतिशीलता (individual mobility), 'सेल्फ़ मेड' व्यक्तित्व, आत्मकेन्द्रित-आत्ममुग्ध अस्तित्व पर अत्यधिक जोर होता है और इन छवियों को बड़े पैमाने पर विज्ञापनों के ज़रिये बेचा जाता है और लोगों पर आरोपित किया जाता है।

इसके अलावा आजकल के विज्ञापनों में अन्धाधुन्ध उपभोक्तावाद से जन्मे अपराधबोध को खत्म न सही तो उसे कुन्द करने पर भी खासा जोर है। यह एक तरह की 'पेड' (paid) समाज-सेवा है जिसमें आप वस्तुओं का उपभोग करने के साथ-साथ परमार्थ के कृत्य भी करते हैं, मिसाल के तौर पर टाटा चाय द्वारा चलायी जा रही एक योजना का विज्ञापन, जिसमें कि खरीदारी करने वाली मध्यवर्गीय औरत संतुष्ट है कि उसकी खरीदारी के कारण अमुक ग़रीब लड़की पढ़ सकेगी। इस प्रकार उपभोग से पैदा होने वाले अपराध-बोध को दूर करने की कीमत भी माल की कीमत में जोड़ दी जाती है। आप किसी माल के लिए बाज़ार दर से ऊँची कीमत देने को भी तैयार हो जाते हैं क्योंकि उससे पैदा होने वाला मुनाफ़ा वह कम्पनी किसी धर्मार्थ के कार्य में लगाती है!

कुछ विशिष्ट विज्ञापन : उदाहरणस्वरूप कुछ विचारणीय बिन्दु

'आइडिया' (जो कि मोबाइल-इण्टरनेट सेवा प्रदाता है और टेलिकॉम सेक्टर में बिड़ला समूह का प्रतिनिधित्व करता है) के एक विज्ञापन को ही लीजिए, 'आइडिया इण्टरनेट नेटवर्क'—आई.आई.एन. ' के नाम से आने वाले ये विज्ञापन कुछ इस तरह से सामने आते हैं कि मानो ये कोई बहुत ही क्रान्तिकारी या आमूलगामी बात कह रहे हों। विज्ञापनों की इस श्रृंखला में एक विज्ञापन की सेटिंग हरियाणा का एक गाँव है। गाँव तो हमें नहीं दिखाया जाता है लेकिन गाँव में ही घर का एक बरामदा है जिसमें कुछ हरियाणवी लड़कियाँ सलवार-कमीज पहने और सिर पर दुपट्टा लिये हुए हैं। इन्हीं में से एक लड़की नैरेटर है जो कहती है कि गाँव में छोरियों को घर से बाहर जाकर कॉलेज में पढ़ने की इज़ाजत नहीं है। फिर वह कहती है कि इसमें कौन सी बड़ी बात हो गयी? अगर हम लड़कियाँ बाहर कॉलेज नहीं जा सकती हैं तो क्या हुआ, कॉलेज तो घर चलकर आ सकता है! और इसके बाद सभी लड़कियों को घर की चाहरदीवारी के बीच स्मार्ट फोनो पर आइडिया इण्टरनेट नेटवर्क की मेहरबानी से घर पर ही कॉलेज की पढ़ाई करते हुए दिखाया जाता है। अब ज़रा इस विज्ञापन के 'टेक्स्ट' और 'सबटेक्स्ट' पर गौर कीजिए। बहुत मशक्कत नहीं करनी पड़ेगी और न ही 'बिटवीन द लाइन्स' (छिपे हुए अर्थ) पढ़ने की ज़रूरत ही पड़ेगी। पहली बात तो यह कि यह विज्ञापन मानकर चलता है कि आपके पास एक स्मार्ट फोन होगा ही। और अगर नहीं है तो आप किसी काम के नहीं हैं और आपका कुछ नहीं हो सकता है। दूसरे, यह विज्ञापन कथित तौर पर लड़कियों को पढ़ने की आज़ादी दिये जाने के समर्थन में है। लेकिन क्या आज़ादी है यह? ऐसी आज़ादी जो यथास्थिति को बदस्तूर बरकरार रखती है; किसी किस्म के विद्रोह का स्पेस नहीं देती; और सामन्ती पितृसत्तात्मक रूढ़िवादी घर-गृहस्थी की चाहरदीवारी में नये पूँजीवादी तौर-तरीकों के ज़रिये (क्योंकि याद रखिये यह "आज़ादी" जो स्मार्ट फोन की तकनीकी के ज़रिये इन लड़कियों को मिली है वह इस 'भले' पूँजीवाद की ही तो देन है) आयी है। और यह भी ध्यान रखने की ज़रूरत है कि इस विज्ञापन की सेटिंग वही हरियाणा है जो हाल ही में खाप

पंचायतों द्वारा अंजाम दी गयी कारगुजारियों के लिए सुखियों में था और पूरे देश में औरतों पर थोपे जाने वाली पाबन्दियों, कट्टरपंथी पितृसत्ता के लिए कुख्यात रहा है। यह विज्ञापन तो पूँजीवादी आधुनिकता द्वारा सहयोजित इन सामन्ती संस्थाओं को भी खूब रास आया होगा। क्योंकि यह विज्ञापन इन पंचायतों द्वारा थोपी गयी मूल्य-मान्यताओं और संस्कारों के साथ कोई छेड़छाड़ किये बिना, उनके सामने कोई चुनौती उपस्थित किये बगैर लड़कियों के पढ़ने-लिखने की आज़ादी का समर्थन कर रहा है। लड़कियाँ घर के भीतर रहेंगी तो बाहर जाकर लड़कों से घुलेंगी-मिलेंगी नहीं, प्यार नहीं करेंगीं, स्वतंत्र सम्बन्ध नहीं बनायेंगीं और जो पार्थक्य ये खाप पंचायतें बनाये रखना चाहती हैं, वह जैसे ही बरकरार रहेगा। इस रूप में 'आइडिया' के सभी विज्ञापन न सिर्फ यथास्थितिवादी हैं बल्कि घोर प्रतिक्रियावादी भी हैं। मिसाल के तौर पर, एक प्रचार में दो मित्र हैं जो कि होटल मैनेजमेण्ट के उद्योग में जाना चाहते हैं। उनमें से एक होटल मैनेजमेण्ट की भारी-भरकम फीस देने की क्षमता रखता है और दूसरा नहीं। ऐसे में, दूसरा दोस्त भी होटल मैनेजमेण्ट में कोर्स में एडमिशन लेने की बजाय आइडिया इण्टरनेट नेटवर्क से होटल मैनेजमेण्ट सीखता है। इस तरह दोनों दोस्त एक बहुत ही अच्छी लोकेशन पर एक रेस्तराँ खोल देते हैं! दर्शक हैरान रहता है कि जिनके पास होटल मैनेजमेण्ट के कोर्स की फीस देने के लिए भी पैसे नहीं थे, उन्होंने ओपेन एयर दमकता रेस्तराँ बनाने के लिए इतनी बड़ी जगह खरीद ली, या किराये पर ले ली! लेकिन विज्ञापन आपसे तर्क के प्रयोग की अपेक्षा नहीं रखते! बस विज्ञापन देखिये और समझ लीजिये कि आइडिया इण्टरनेट नेटवर्क का इस्तेमाल आपको भी कर लेना चाहिए।

जीवन बीमा से जुड़े तमाम विज्ञापनों को ले लीजिए। ये विज्ञापन समूचे विज्ञापन जगत के एक खास रुझान को दर्शाते हैं। जैसा कि ब्रेष्ट ने कहा था, "एक बैंक स्थापित करने की तुलना में एक बैंक लूटना क्या है?" ब्रेष्ट ने अपने उपन्यास 'श्री पेनी नॉवेल' में दिखाया है कि किस तरह पूँजीवादी व्यवस्था समाज में असुरक्षा और अनिश्चितता का माहौल पैदा करती है और फिर इस असुरक्षा और अनिश्चितता पर भी वह धन्धा करती है! बीमा और बैंक उद्योग इन्हीं चारित्रिक अभिलाक्षणिकताओं की पैदावार है। और इनके विज्ञापन इस सच्चाई को एकदम ठण्डी वस्तुपरकता के साथ आपके बीच पेश करते हैं। इनमें एक खास प्रकार का पूँजीवादी यथार्थवाद है! इन विज्ञापनों में मार्क्स की वह प्रसिद्ध उक्ति चरितार्थ होती नज़र आती है कि "पूँजीवाद ने सभी पवित्र माने जाने वाले रिश्ते-नातों को आना-पाई के स्वार्थी हिसाब-किताब के ठण्डे पानी में डुबो दिया है।" एक ऐसे ही विज्ञापन में (शायद आई.सी.आई.सी.आई. प्रुडेन्शियल के) एक मध्यवर्गीय आदमी को पता चलता है कि उसे कैंसर है और यह सोचकर वह घबरा जाता है कि उसके परिवार के सदस्यों की इस पर क्या प्रतिक्रिया होगी। वह कल्पना जगत में चला जाता है। वह देखता है कि इलाज पर होने वाले खर्च का पता चलने पर उसकी पत्नी यह सोचकर दुःखी है कि जो कीमती हार वह खरीदना चाहती थी अब नहीं खरीद पायेगी! उसका बेटा एक मोटरसाइकिल पर टेक लगाये हीरो की तरह खड़ा था कि अचानक वह मोटरसाइकिल गायब हो जाती है और वह धड़ाम से ज़मीन पर गिरता है। और तब वह कैंसरग्रस्त आदमी इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ये सब न हो इसके लिए चिकित्सा बीमा पॉलिसी ही ले लेना बेहतर है। यह विज्ञापन स्पष्ट तौर पर दिखा रहा है कि उस व्यक्ति की जान की कोई कीमत नहीं है! जिस चीज़ की कीमत है वह है कि सुरक्षा, माल और पैसा! पूँजीवादी समाज और व्यवस्था स्वयं अपना जिस प्रकार प्रचार कर रहे हैं वह पतनशीलता के इस अभूतपूर्व दौर में ऐसी गलाज़त और ऐसी अश्लीलता के साथ हो रहा है जो उबकाई पैदा करती है।

विज्ञापन जगत पूँजीवादी उन्मादी करियरवाद को बढ़ावा देने और इस प्रक्रिया में अपना माल बेचने के लिए भी अमानवीय हदों तक जाता है। मिसाल के तौर पर अब बॉर्नवीटा का एक विज्ञापन

ही लीजिए। इसमें एक मध्यवर्गीय माँ अपने बेटे को एक दौड़ की प्रतियोगिता के लिए तैयारी करवाते हुए दिखायी जाती है। यह माँ हर कीमत पर अपने बेटे पर प्रतियोगिता जीतने के लिए दबाव बनाती हुई नजर आती है। वह बच्चे को दौड़ा-दौड़ाकर बेहाल कर देती है। दिखाया जाता है कि वह खुद बेटे से रेस लगाती है और उसे खुश करने के लिए उसे जीतने नहीं देती। बल्कि उसे हराती है और पहले से तेज़ दौड़ने के लिए प्रेरित करती है। इसी की तैयारी के लिए वह उसे बोर्नवीटा पिलाती है। पूँजीवादी गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा और होड़ में यह बच्चा पिछड़ न जाये इसके लिए यह मध्यवर्गीय महत्वाकांक्षी माँ अपनी सारी उम्मीदों का भार उसके नन्हें कंधों पर डालने से भी नहीं हिचकिचाती है; “तैयारी जीत की” नामक टैगलाइन से आनेवाला यह विज्ञापन इस बात पर चुप है कि अगर बच्चा रेस हार गया तो क्या होगा? शायद इसलिए क्योंकि रेस हारने वालों की जगह पूँजीवाद में है ही नहीं। बोर्नवीटा के ही एक विज्ञापन में एक अन्य प्रतिस्पर्द्धी मध्यवर्गीय माँ अपने बेटे को तैराकी प्रतियोगिता में हिस्सेदारी के लिए तैयार करती है। बच्चे की एक टाँग में फ्रैक्चर होता है इसलिए माँ भी अपनी एक टाँग बाँध लेती है और जब तक बच्चा तैराकी की तैयारी करता है तब तक वह भी एक टाँग पर खड़ी रहती है। यह एक बीमार किस्म के पूँजीवादी व्यक्तिवाद और ‘तकलीफ़ के कल्ट’ का निर्माण करने का प्रयास है जिससे कि महामानव तैयार होते हैं। यह एक अन्धे, अमानवीय, असंवेदनशील किस्म के करियरवाद को बढ़ावा देता है।

इसके अलावा अमेज़ॉन डॉट कॉम, फिलपकार्ट, जबाँग, स्नैपडील जैसे ऑनलाइन रिटेल स्टोर अपने विज्ञापनों के ज़रिये उपभोक्तावाद की एक नयी लहर पैदा कर रहे हैं। “और दिखाओ-और दिखाओ-अपना नारा और दिखाओ”, “यह पहनूँ-क्या पहनूँ”—इन सभी स्लोगनों के साथ आनेवाले ये विज्ञापन उपभोक्ताओं के एक खास हिस्से को, यानी खाते-पीते मध्यवर्ग को टारगेट करते हैं और उन्हीं को आकर्षित करते हैं। ये विज्ञापन नग्न बेशर्म किस्म के उपभोक्तावाद के परिचायक हैं। ये डंके की चोट पर कहते हैं कि जो भी पुराना हो जाये उसे बेच दो। कई बार यह स्पष्ट भी नहीं किया जाता कि माल या आदमी और कई बार माल के रूपक के तौर पर इंसान को इस्तेमाल किया जाता है।

इसके अलावा तमाम सौन्दर्य प्रसाधनों से जुड़े विज्ञापन एक खास किस्म की खूबसूरती के मानकों को सब पर थोपने का प्रयास करते हैं। ये विज्ञापन न सिर्फ सुन्दरता के मौजूदा मूल्यों को आरोपित करते हैं बल्कि नये मूल्यों-मानकों को गढ़ते भी हैं। चाहे फेयरनेस क्रीम के विज्ञापन हों या एण्टी-एजिंग क्रीम के—सभी में सुन्दरता से जुड़े मानकों का सार्वभौमिकीकरण (universalisation) और एकरूपीकरण (homogenisation) ही दिखायी देता है। इसलिए पूँजीवादी सौन्दर्य बाज़ार में अगर आप गोरे नहीं हैं, जवान नहीं हैं, एक खास किस्म के शारीरिक बनावट के नहीं हैं, तो आपको शायद ही कोई ख़रीदार मिले—सौन्दर्य प्रसाधनों का हरेक विज्ञापन यही सन्देश लिए हुए होता है। गोरेपन को लेकर जो कृण्टा हमारे देश में अंग्रेज़ी गुलामी के दौर में पैदा की गयी थी उसे आज तक कायम रखा गया है। यह एक ख़ास प्रकार एकलसंस्कृतिकरण और एकरूपीकरण करता है जो कि हमारे देश के लोगों की मानसिक गुलामी को कायम रखने में ही योगदान करता है। चूँकि यह बिकता है।

विज्ञापन किस तरह वर्गों का प्रारूपीकरण (typicalisation) भी करते हैं, इसका उदाहरण “सी.पी. प्लस” नामक सी.सी.टी.वी. कैमरा कम्पनी के एक विज्ञापन में आप देख सकते हैं। इस विज्ञापन में एक उच्चमध्यवर्गीय शिशु और उसकी देखभाल करनेवाली आया या फिर घर की नौकरानी को दिखाया जाता है। यह नौकरानी बच्चे के खाने को बच्चे के मुँह के पास ले जाती है और फिर उसे खुद ही खा जाती है। फिर वह विकृत किस्म से हँसते हुए दिखायी जाती है। इतने में

अचानक गुस्से से भरी एक आवाज़ सुनायी देती है “शान्ति, ऊपर वाला सब देख रहा है।” चूँकि सी.सी.टी.वी. कैमरा लगा हुआ था इसलिए घर की मालकिन नौकरानी पर निगाह रखने में कामयाब रही और ऐसा “भयानक कृत्य” करते हुए उसे रंगे हाथों पकड़ लिया। ज़रा सोचिए, क्या यह विज्ञापन एक खास वर्ग के प्रति पूर्वाग्रह पैदा करने का काम नहीं कर रहा है? अगर ऊपर वाला सब देख रहा है तो किसी कारखाने या फैक्ट्री में एक कारखानेदार द्वारा अपने मज़दूरों को न्यूनतम मज़दूरी न दिये जाने पर चुप क्यों है? और विज्ञापन अपनी प्रस्तुति के केन्द्र में ऐसी कोई सेटिंग क्यों नहीं रखता। या फिर इसी नौकरानी को ही लीजिए, उसकी मालकिन ही उसे कितनी कम मज़दूरी देती है, या उससे तय काम से कितना अधिक काम करवाती है; अपने वर्ग चरित्र के चलते न तो कोई सी.सी.टी.वी. कैमरा ही कभी यह कैद करेगा और न ही कोई विज्ञापन ही ऐसा कोई चित्रण करेगा। यह विज्ञापन यह मानकर चलता है कि मज़दूर वर्ग के लोग और ग़रीब फितरत से ही धोखेबाज़ होते हैं और उन पर लगातार नज़र रखना अनिवार्य है। यह समूची ग़रीब आबादी का अपमान करता है और उसके प्रति मध्यवर्गीय आबादी में पूर्वाग्रह पैदा करने का काम करता है। किसलिए? ताकि सीसीटीवी कैमरा बेचने वाली कम्पनी का माल बिके!

इस संक्षिप्त चर्चा के बाद हम देख सकते हैं कि विज्ञापन न सिर्फ़ पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अहम भूमिका अदा करते हैं बल्कि वे पूँजीवादी विचारधारात्मक उपकरण के रूप में पूँजीवादी दृष्टिकोण, मनोविज्ञान और संस्कृति का बेहद चालाकी और बारीकी के साथ प्रचार-प्रसार भी करते हैं। विज्ञापन अत्यन्त वर्चस्वकारी तरीके से एक खास नज़रिये से सोचने के लिए लोगों (जिसे कि वे महज़ उपभोक्ता के रूप में देखते हैं) की सहमति लेने का काम करते हैं। लेकिन, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि न तो प्रकृति में और न ही समाज में कोई भी प्रक्रिया या परिघटना एकाशमी तरीके से चलती रहती है। और चूँकि लोग सोचते हैं और लोग अपने हालात के बारे में भी सोचते हैं, इसलिए पूँजीवाद का कोई भी प्रोपगैण्डा कितना भी वर्चस्वकारी क्यों न हो लोगों को चिरन्तन काल तक चीज़ों के प्रति अनालोचनात्मक नहीं बनाये रख सकता। विज्ञापनों के दर्शक महज़ निष्क्रिय ग्रहणकर्ता (passive receiver) नहीं होते बल्कि सचेतन/सक्रिय अभिकर्ता (conscious/active agent) भी होते हैं। विज्ञापनों के बाहर विद्यमान वास्तविक दुनिया लोगों को विज्ञापनों में निर्मित की गयी कृत्रिम/फ़न्तासी की दुनिया की असलियत दिखा ही देती है। लोग किसी भी सांस्कृतिक उत्पाद जैसे कि फिल्म, गीत, विज्ञापन आदि का एक ग़ैर-आलोचनात्मक पाठ कर सकते हैं, तो वे इसका आलोचनात्मक पाठ भी कर सकते हैं, जैसा कि स्टुअर्ट हॉल ने दिखलाया था। जब लोग अपने जीवन की भौतिक और वास्तविक सामाजिक स्थितियों से प्रस्थान करते हुए विज्ञापन द्वारा प्रक्षेपित चित्रों और बिम्बों को देखता-समझता है तो बजाय उसके प्रभाव में आने के वह उनके प्रति घृणा से भी भर सकता है और उसके प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण भी अपना सकता है। लेकिन फिर भी इतना तय है कि आज विशेष तौर पर मध्यवर्ग के विभिन्न संस्तरों में पूँजीवादी संस्कृति उद्योग विज्ञापन के ज़रिये सबसे सूक्ष्म और कुशल तरीके से अपने विचारों, मूल्य-मान्यताओं, अर्थ प्रणालियों (systems of meaning) का प्रचार-प्रसार करते हैं और इस रूप में पूँजीवादी व्यवस्था के विचारधारात्मक प्रभुत्व को स्थापित करने का प्रयास करते हैं। चूँकि यह घर-घर में घुसे टेलीविज़न के माध्यम से लोगों के दिमाग़ में प्रवेश करता है और अन्तहीन दुहराव के ज़रिये अपने द्वारा प्रसारित सन्देश को रेखांकित करता रहता है, इसलिए इसका प्रभाव दूरगामी और गहरा होता है। इस प्रभाव इसलिए भी दूरगामी और गहरा होता है क्योंकि आज पूँजीवादी प्रचार उद्योग बेहद कुशल और सूक्ष्म तरीकों से और बेहद उन्नत तकनोलॉजिकल और सांस्कृतिक माध्यमों के ज़रिये अपने प्रचारों का निर्माण कर रहा है। ●

एक नई संगीत संस्कृति के निर्माता

● हान्स आइस्लर

हान्स आइस्लर महान जर्मन संगीतकार और संगीत चिन्तक थे। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के सर्वाधिक प्रतिभावान युवा संगीतकारों में उन्हें गिना जाता था। लेकिन आइस्लर ने बुर्जुआ विचारधारा और कला-धाराओं को खारिज किया और अपनी सृजनात्मक क्षमताएँ हिटलर-पूर्व जर्मनी में क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग के आन्दोलन को समर्पित कर दीं। इसी दौरान उन्होंने बर्टोल्ट ब्रेष्ट के साथ मिलकर काम शुरू किया और यह भागीदारी इन दोनों महान कलाकारों के जीवन-पर्यन्त चलती रही। 1933 में आइस्लर को नाज़ी जर्मनी छोड़ना पड़ा लेकिन उनके संगीत सृजन में या फासिस्ट-विरोधी और प्रगतिशील समूहों के साथ उनके काम में कोई कमी नहीं आई। अमरीका में दस वर्ष तक निर्वासन में रहने के दौरान उन्होंने फिल्मों के लिए संगीत तैयार किया, संगीत शिक्षण किया और व्याख्यान देते रहे। मैकार्थी के दौर में उन्हें वाशिंगटन में हाउस कमिटी ऑन अन-अमेरिकन एक्टिविटीज़ के सामने बुलाया गया जिसका एक ही उद्देश्य था, कम्युनिस्टों या उनसे सहानुभूति रखने वालों को प्रताड़ित करना। 1948 में वे यूरोप चले गये और फिर 1950 से मृत्युपर्यन्त पूर्वी जर्मनी में रहे। 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में जब पश्चिम की युवा, प्रगतिशील पीढ़ी ने ब्रेष्ट के बहिष्कार को तोड़ा तो आइस्लर भी वहाँ के संगीत पंडितों के लिए “सम्माननीय” हो गये। ‘टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट’ में एक लेख में डेविड डू ने लिखा है : “उनके निबन्धों और व्याख्यानों में द्वन्द्वात्मक पद्धति पर ऐसी महारत और भाषा पर ऐसी पकड़ दिखती है, इतने विस्तृत सन्दर्भ और ऐसी विदग्धता मिलती है कि खुद को याद दिलाना पड़ता है कि वह मूलतः एक संगीतकार थे।” — सम्पादक

संगीत में जो नया है, उसके विविध पहलुओं के साथ उसे परिभाषित करने के लिए यह ज़रूरी है कि संगीत में मौजूद स्थिति का विश्लेषण किया जाये और सर्वोपरि तौर पर, उसका आलोचनात्मक परीक्षण किया जाये। निश्चित ही, ऐसे किसी परीक्षण की दिक्कतें बहुत अधिक हैं।

पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली जिस श्रम-विभाजन पर स्थापित है उसने कला के क्षेत्र में 'विशेषज्ञ' और 'शौकिया' (एमेच्योर) के बीच एक खास किस्म के विभाजन को जन्म दिया है। इससे संगीत के बारे में वैज्ञानिक ढंग से बात करने की दिक्कत का पता चलता है। यदि हम कला के बारे में इस तरह से चर्चा करना चाहते हैं कि महज इसका वर्णन करने के बजाय कुछ व्यावहारिक और उपयोगी नतीजे भी निकालें तो यह नितान्त आवश्यक है कि न केवल कला के उत्पादन में, बल्कि कला की अवधारणा में भी वैज्ञानिक पद्धतियों को लागू किया जाये। संगीत के दायरे में विज्ञान को लागू करने में एक खास किस्म की दिक्कत है कि इसका वर्णन केवल उस व्याख्यात्मक शब्दावली में ही किया जा सकता है जो सांगीतिक तकनीक से पैदा होती है और मुमकिन है कि संगीत की दुनिया का कोई शौकिया आदमी उससे परिचित न हो।

आज यदि हम कला के किसी औसत बुर्जुआ उपभोक्ता से संगीत के बारे में उसके विचार पूछें तो हमें यह उत्तर मिलेगा : संगीत अतिप्राचीन काल से मौजूद है और हमेशा मौजूद रहेगा। यह एक समाजोपरि परिघटना है, जिसकी आंशिक व्याख्या, निश्चित तौर पर, सामाजिक परिस्थितियों द्वारा भी की जा सकती है, लेकिन फिर भी जिसका एक स्वतंत्र चरित्र है। कला-शैलियों में परिवर्तनों की व्याख्या अभिरुचि में परिवर्तनों द्वारा की जाती है। संगीत में परिपूर्णता की एक निश्चित मात्रा होती है, जो मनुष्य से स्वतंत्र रूप में मौजूद रहती है, और जो अन्ततोगत्वा अपना प्रभाव छोड़ती ही है, चाहे भले ही आम तौर पर लोगों को उसका पता न चले। क्योंकि जो सचमुच महान है वह कभी न कभी अपना प्रभाव छोड़ेगा ही। यदि मानव जाति विलुप्त हो जाये तो भी संगीत के महान मूल्य, अपने खुद के अन्तर्निहित नियमों का अनुपालन करते हुए, मानव समाज के बाहर और उसके बावजूद, चिरस्थायी बने रहेंगे।

समाजोपरि परिघटना के रूप में संगीत की यह अवधारणा इन सौन्दर्यशास्त्रीय विचारों तक पहुंचाती है : समाज से बाहर और उससे स्वतंत्र एक काल्पनिक 'हार्मोनी' मौजूद है, वही वह सांगीतिक आदर्श है जो किसी व्यक्ति द्वारा या किसी कलाकृति-विशेष द्वारा हासिल किया जाता है अथवा नहीं किया जाता है। किसी कलाकृति ने किस हद तक परिपूर्ण 'हार्मोनी' अर्जित की है, इसे निर्धारित किया जा सकता है। कला-मूल्यों को निर्धारित करने की पद्धतियां अंशतः तकनीकी होती हैं और अंशतः शुद्ध संवेगात्मक (भावनात्मक) होती हैं। फिर भी ये सामान्य पद्धतियां होती हैं और इन्हें हरेक व्यक्ति लागू कर सकता है, चाहे वह जिस किसी भी सामाजिक वर्ग का हो।

संगीत और सांगीतिक कृतियों की यही अवधारणाएं हैं जो आज आम तौर पर, थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ, देखने-सुनने को मिलती हैं। सांगीतिक कर्म से निकाले गये इन विचारों ने संगीत के व्यवहार को कैसे प्रभावित किया है और इसके उलट, संगीत के व्यवहार ने इन विचारों को कैसे प्रभावित किया है? यह मानना पड़ेगा कि इन विचारों ने और अधिक विभ्रम पैदा किया है, क्योंकि यदि एक ही कृति पर अलग-अलग व्यक्ति इन्हें लागू करते हैं तो नतीजे के तौर पर अलग-अलग मूल्यांकन सामने आते हैं। व्यक्तिगत अभिरुचि ही अकेला पैमाना होता है, लेकिन उसे तकनीकी अथवा विचारधारात्मक रूप से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। व्यापक रूप से व्याप्त और अभी भी फलता-फूलता यह विभ्रम स्पष्ट कर देता है कि ये विचाराधीन पद्धतियां लागू करने लायक अब लगभग रह ही नहीं गई हैं। बुर्जुआ संगीत में संकट के सर्वाधिक प्रत्यक्ष संकेतों में से एक है, इसका अराजक चरित्र। प्रचलित सांगीतिक रीतियों-पद्धतियों में परिवर्तन अराजक हैं, कंसर्ट (संगीत-सभा) का व्यवसाय अराजक है, यहाँ तक कि कंसर्ट-जगत में संकट की प्रतिक्रियाएँ भी अराजक हैं। कंसर्ट-संगीत में संकट खास

तौर पर पिछले कुछ वर्षों के दौरान तीखा हुआ है और शायद यह उस भयावह विनाशकारी आपदा के अपेक्षित अधिक स्पष्ट रूपों में से एक है जो सुव्यवस्थित बुर्जुआ सांगीतिक सम्बन्धों से बर्बरता की अवस्था में संक्रमण की भविष्यवाणी कर रही है। कंसर्ट-जगत में संकट की सर्वाधिक युक्तिसंगत व्याख्या सामाजिक है। मुद्रास्फीति के चलते मध्य वर्ग के अधिकार-वंचित होते जाने और व्यापक निम्न-पूँजीपति वर्ग के बढ़ते सर्वहाराकरण के परिणामस्वरूप, युद्ध-पूर्व की शिक्षा के उस स्तर और संगीत की शिक्षा के भी उस स्तर को बनाये रख पाना असम्भव हो चुका है जिसने कंसर्टों में जाने के चलन को स्थायित्व प्रदान किया था। निम्न-पूँजीपति वर्ग की व्यापक आबादी, नौकरीपेशा लोग और यहाँ तक कि मध्य वर्ग भी ऐसे संगीत पर निर्भर हो चुका है जो कठिन और अनिश्चित आर्थिक स्थितियों के इस समय में सुगमता से तुष्ट करता है। हम सभी ने स्वयं उस तथाकथित हल्के या जिन्दादिल संगीत के प्रस्फोट को अनुभव किया है जिसकी पहले यह कहकर उपेक्षा की जाती थी कि इसमें गम्भीरता का अभाव होता है। कंसर्ट हाल या आपेरा हाउस जैसी विशेषाधिकार प्राप्त जगहों में भी सबसे सहज-साध्य सांगीतिक आनन्द—जाज़—ने घुसपैठ कर ली है। जाज़ ने श्रोता का इस ढंग से मनोरंजन करना बहुत सम्भव बना दिया है जो जीवन्त तो हो पर जिसमें कोई प्रतिबद्धता न हो, क्योंकि यह श्रोता से किसी तरह का कोई तकाजा नहीं करता। ऐसा सिर्फ जाज़ में ही नहीं हुआ है कि शुद्ध आनन्द का कार्य, जिसे हमने बुर्जुआ संगीत का कार्य बताया था, एक विशुद्ध उद्दीपक बन जाता है। बुर्जुआ संगीत की महानता के युग में हम आनन्द के साधन के रूप में जिस *वेल्टनशाऊंग* (विश्व दृष्टिकोण)* को पाते हैं, वह मृत हो चुका है। अब यह कार्य विशुद्ध रूप से क्षणिक उद्दीपन प्रदान करना भर रह गया है। पिछले पन्द्रह वर्षों में तेजी से बदलते संगीत के फैशनों की केवल इसी तरीके से व्याख्या की जा सकती है। उद्दीपन का असर बहुत जल्दी उतर जाता है और इसलिए बुर्जुआ संगीत के हाल के युग में, जहाँ इसका कार्य वही रहा है, लगातार संगीत की नयी-नयी पद्धतियों की जरूरत बनी रही है। यह जरूरत समाज में संगीत के कार्य में किसी आम बदलाव से नहीं पैदा हुई है बल्कि यह उसी कार्य, यानी मनोरंजन, को बरकरार रखते हुए बदलाव की चाहत से पैदा हुई है। डेढ़ सौ साल पहले मनोरंजन का एक प्रतिबद्ध चरित्र होता था, उदाहरण के लिए इसका एक वीरोचित चरित्र होता था। लेकिन अब मनोरंजन सिर्फ मजा दिलाने का एक अप्रतिबद्ध उपकरण बन गया है। इसका काम शब्द के पूँजीवादी अर्थ में श्रमशक्ति का पुनरुत्पादन करना रह गया है। यह प्रक्रिया बर्बर रूप धारण करती है, लेकिन इसके बावजूद द्वन्द्वत्मक भौतिकवादी व्यक्ति के लिए इसका एक प्रगतिशील चरित्र भी है। यह बात समझ में आने लायक नहीं लगती है और इसलिए इसकी थोड़े विस्तार से व्याख्या जरूरी है।

पिछले पन्द्रह वर्षों में संगीत के विकास ने कलाकार के व्यक्तित्व और कलाकृति की स्वतंत्रता के बारे में बुर्जुआ कला की पुरानी जड़ शब्दावली को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया है। बुर्जुआ संगीत व्यवसाय का सर्वग्राही चरित्र नष्ट हो गया है। इस संगीत संस्कृति के ध्वंसावशेषों पर एक नई संगीत संस्कृति के लिए मजदूरों के संघर्ष के वास्ते जगह बना दी गई है। यह नई संगीत संस्कृति उनकी वर्गीय स्थिति के अनुरूप होगी जो आज एक स्पष्ट शक्ति अख्तियार करने लगी है।

पूँजीवाद में संगीत का व्यवहार और संगीत का उपभोग

काम और अवकाश (leisure) के बीच का तीखा अन्तरविरोध, जो पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की विशेषता है, सभी बौद्धिक गतिविधियों को दो हिस्सों में बांट देता है—एक वह जो काम की सेवा करती है और दूसरी वह जो अवकाश में काम आती है। लेकिन अवकाश श्रमशक्ति के

पुनरुत्पादन की एक प्रणाली है। अवकाश की अन्तर्वस्तु काम की अन्तर्वस्तु नहीं हो सकती। अवकाश उत्पादन के हित में गैर-उत्पादन को समर्पित होता है। पूँजीवाद में संगीत व्यवहार के विशिष्ट रूप का यही सामाजिक-आर्थिक आधार है।

पहले मैं आपको सामन्ती युग में संगीत के प्रति दृष्टिकोण और इसके व्यवहार की एक संक्षिप्त रूपरेखा दे दूँ ताकि सामन्तवाद और पूँजीवाद की अलग-अलग संगीत पद्धतियों का वैषम्य स्पष्ट किया जा सके। सामन्तवाद के युग में हम इन रूपों में संगीत को पाते हैं: शासक ऊपरी तबकों के विशेषाधिकार के तौर पर दरबारों में संगीत, शासित वर्ग को निर्देश और शिक्षा देने के लिए चर्च में संगीत तथा काम के समय गाये जाने वाले गीतों, प्रेम गीतों आदि के रूप में कार्य स्थल तथा आम जीवन में संगीत। लेकिन यह विभाजन यात्रिक ढंग से नहीं किया जाना चाहिए। समाज के विकास के एक बिन्दु पर चर्च संगीत लोक गीतों को अपनाकर अपने अनुकूल ढाल लेता है जबकि दरबारी संगीत चर्च संगीत की गठन पद्धतियों का इस्तेमाल करने लगता है। अब हम अपने विमर्श में एक नया शब्द लाते हैं और वह है—संगीत का कार्य। इससे हमारा आशय है संगीत-सृजन का सामाजिक उद्देश्य। सामन्तवाद में छोटे से विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग के लिए संगीत का कार्य था आनन्द और मनोरंजन, उत्पीड़ित वर्ग के लिए इसका कार्य अनुशासनिक था। यहाँ भी हमें ध्यान रखना चाहिए कि हमारा रुख लचीला हो। क्योंकि संगीत के अनुशासनिक कार्य तक में भी, उदाहरण के लिए सैन्य संगीत में, आनन्द का पहलू होता है। लेकिन विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग के लिए आनन्द ही संगीत का लक्ष्य था; और यही इसका निर्णायक सामाजिक पहलू है।

चर्च के पुरोहितों की निगाह में संगीत तभी तक उचित है जब तक यह ईसाई शिक्षाओं से मेल खाता है और चर्च की प्रार्थनाओं का प्रभाव बढ़ाता है। उनका निर्णय अपने समय के चर्च के व्यावहारिक प्रयोजनों से संचालित होता है। अपने आप में एक उद्देश्य तथा सौंदर्यात्मक आनन्द के रूप में कला की निन्दा की जाती है। मैं अन्तिम वाक्य की ओर आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ क्योंकि यह आज संगीत के प्रति बुर्जुआ दृष्टिकोण की पूरी अन्तर्वस्तु को परिभाषित कर देता है। यदि चर्च के पुरोहित आरम्भिक सामन्तवाद के समय से ही इस दृष्टिकोण का विरोध करते थे तो इससे पता चलता है कि उस समय भी शहरी वर्गों के तबकों और जागीरदारों के बीच सामाजिक अन्तरविरोध मौजूद था। पुरोहित वर्ग के संगीत के सौंदर्यशास्त्र के प्रति इस उग्र दृष्टिकोण का मुख्य उद्देश्य चर्च तथा विधर्मी संगीत के बीच स्पष्ट विभाजन करना था। विधर्मी संगीत में खासकर वर्ण विज्ञानियों (chromatics) को हानिकारक और कमजोर बनाने वाले तत्व कहकर दुत्कारा जाता था। सामन्तवाद में संगीत की अनुमति तभी होती थी जब वह चर्च की सेवा में होता था और वहाँ भी इसकी भूमिका शब्द की तुलना में मातहत की थी। पुरोहित वर्ग का कहना था, “ईश्वर ने मनुष्य को संगीत इसलिए दिया है ताकि उसे भजन आसानी से कंठस्थ हो सकें।” संगीत के ऐन्द्रिक आकर्षण को खत्म नहीं किया जा सकता था लेकिन चर्च ने इसे चर्च की सेविका में तब्दील करके अहानिकर बनाने की पूरी कोशिश की। इसने शब्द पर और गायकों की मनःस्थिति पर बहुत बल दिया लेकिन श्रोताओं पर नहीं। उपरोक्त उद्धरण प्रोफेसर एबर्ट की किताब **मध्य युग में संगीत के प्रति रुख** (The Approach to Music in the Middle Ages) से लिया गया है। प्रो. एबर्ट आगे बताते हैं कि हर तरह की सुरीली गायकी और किसी भी तरह के अलंकारों की सख्ती से मनाही थी। “धर्मपरायण या बुजुर्ग व्यक्तियों के लिए अपने गायन में लोच पैदा करना या कठोर स्वर लाना उचित नहीं है। उन्हें संयमित आवाज में ईश्वर की वंदना करनी चाहिए जिससे उनके गायन का प्रभाव संगीत-सृजन का नहीं बल्कि

आह भरने जैसा पड़े।” भजनों को कंठस्थ करने में मदद तथा शब्दों के भावनात्मक प्रभाव को बढ़ाने के अलावा संगीत का एक कार्य प्रार्थना सभा में पश्चाताप की भावना जगाना और उसे तीव्र करना भी था। यह विशिष्ट सौन्दर्यशास्त्र शासक वर्गीय हितों से उद्भूत था और व्यवहार में लागू करने पर सामन्ती सम्बन्धों को और स्थिर बनाने में मदद करता था। पादरी हिरोनाइमस का कहना था, और आपको मानना पड़ेगा कि यह एक विशिष्ट सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण है: “किसी की आवाज चाहे कितनी भी खराब क्यों न हो, यदि उसके कर्म अच्छे हैं तो ईश्वर के समक्ष वह एक अच्छा गायक है। ईसा के सेवकों को गाना चाहिए। गायक की आवाज़ नहीं बल्कि उसके शब्दों से आनन्द मिलना चाहिए।” पवित्र आगस्टस किसी भी ऐन्द्रिक स्वर के विरुद्ध जोरदार चेतावनी देते हैं क्योंकि इससे ईश्वर की ओर से ध्यान भटक सकता है जिसमें गम्भीर पाप का खतरा निहित है। व्यावहारिक पुरोहित लोग अपने गायकों को चेतावनी देते हैं कि उनके मनोभाव और उनका आचरण, जो कुछ वे गा रहे हैं, उसकी अन्तर्वस्तु के अनुरूप होना चाहिए, वरना उनका गायन खुद उनके लिए और प्रार्थना सभा के लिए व्यर्थ सिद्ध होगा। आरम्भिक सामन्तवाद में संगीत उत्पादन की कुछ पूर्वशर्तें भी थीं। जैसे, संगीत प्रतिभाजन्य क्षमता की बात नहीं है बल्कि यह सूत्रों का एक योग है जिसे हर कोई हासिल कर सकता है और करना ही चाहिए। और अन्त में, खुद संगीतकार का व्यावहारिक दृष्टिकोण है जो कलाकार के बुर्जुआ विचार से एकदम विपरीत है। उस समय के एक सिद्धान्तकार जोहानेस कॉटनियस ने कहा है, “कलाकार को हमेशा ही उस जनता की विशिष्टताएँ अपने ध्यान में रखनी चाहिए जिसे वह प्रभावित करना चाहता है।”

अब हम चर्च संगीत के कार्य को संक्षेप में इस तरह रख सकते हैं : चर्च में संगीत किसी एक व्यक्ति या उसके व्यक्तिगत भाग्य की ओर लक्षित नहीं है बल्कि इसका कार्य समस्त भागीदारों के आचरण को धार्मिक बनाना है। इस तरह, जब श्रोता को बाद में, समवेत गायन के रूप में संगीत में शामिल होने का मौका मिलता है, तो वह एक तरह के व्यायाम या अभ्यास में भाग लेता है और इस तरह एक विशेष आचरण-व्यवहार के लिए ज्यादा दृढ़ता और प्रभावी ढंग से बाध्य किया जाता है। इस मामले में संगीत में आनन्द एक मातहत तत्व है। संगीत-सृजन का यह रूप जागीरदारों और सामन्तों के वर्ग हितों के अनुकूल था और व्यवहार में इसने बार-बार सामन्तवाद को स्थिर बनाया। इस सामाजिक कार्य से स्वरों के विन्यास की एक विशिष्ट पद्धति निकली जिसे हम सीधे संगीत तकनीक कहेंगे।

मध्य युग में संगीत रचना की तकनीक इस प्रकार थी : सांगीतिक विचारों की प्रस्तुति बहुस्वरात्मक (polyphonic) थी। शास्त्रीय संगीत से पहले की बहुस्वराता में कोई वैषम्य नहीं था, न तो लय व गति में और न ही स्वरों के विन्यास में। इस तकनीक की विशिष्टताओं में से एक है विविधता का अभाव। यह विविधता विषय की है जो इसके विकास को सम्भव बनाती है। संगीत के विषय को विभाजन द्वारा, आवृत्ति द्वारा या आगे बढ़ाकर परिवर्तित नहीं किया जाता और न ही उन्नीसवीं शताब्दी के शास्त्रीय संगीत की तरह इसे विकसित किया जाता है। सांगीतिक विकास अन्य आवाजों में जोड़कर हासिल किया जाता है। आम तौर पर यह बहुस्वरात्मक प्रस्तुति का सार है क्योंकि कोई बन्दिश या नकल किसी उस संगीत विचार को विकसित करना ही होता है। ऐसा इसे विभिन्न स्तरों पर, विभिन्न स्वरमानों के साथ और विभिन्न समयों में गाकर या बजाकर किया जाता है।

वाद्य संगीत रचना बुर्जुआ अर्थ में वाद्य संगीत रचना नहीं है। यह विशुद्ध रूप से अलग-अलग हिस्सों की रचना है जिसमें न तो रंग है और न ध्वनि प्रभाव। वादन एक हद तक

एकरूप स्वर में किया जाता है। उत्कर्षी आरोह और अवरोह नदारद होते हैं। स्वराघात परिवर्तन की कमी होती है। इससे हम देख सकते हैं कि कैसे एक निश्चित सामाजिक स्थिति एक निश्चित संगीत तकनीक को जन्म देती है और यह तकनीक व्यवहार में लागू किये जाने पर इस सामाजिक स्थिति की मदद करती है।

सामन्तवाद की गोद में पल रहा बुर्जुआ वर्ग सामन्ती उत्पादन प्रणाली का विरोधी होता है। पहले मैं इस सामाजिक अन्तरविरोध की आर्थिक दायरे में व्याख्या कर दूँ ताकि हम संगीत जैसे मुश्किल क्षेत्र में इसे स्पष्ट कर सकें। इनमें से एक अन्तरविरोध था मैन्युफैक्चर और भूमि लगान के बीच। सामन्ती भूमि लगान से मुनाफे का स्रोत एक विशिष्ट सामाजिक ढांचा—भूदास प्रथा में होता है। लेकिन पूँजी के अस्तित्व की ऐतिहासिक पूर्वशर्तें क्या हैं? जैसा कि मार्क्स ने लिखा है : “पूँजी के अस्तित्व में आने की ऐतिहासिक पूर्वशर्तों में पहली है कुछ व्यक्तियों के हाथों में निश्चित मात्रा में धन का संचय, एक ऐसे समय में जब, समग्र रूप में, माल उत्पादन का स्तर अपेक्षाकृत ऊँचा हो; और दूसरी पूर्वशर्त है ‘मुक्त’ श्रम की मौजूदगी। इस ‘मुक्ति’ का दोहरा अर्थ है। पहला यह कि मजदूर अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए हर तरह के बंधनों और सीमाओं से मुक्त है, और दूसरा यह कि वह भू सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों से भी पूरी तरह मुक्त है। जैसा कि मार्क्स व्यंग्य के साथ कहते हैं, वह एक ऐसा मजदूर है जो “पक्षी की तरह मुक्त”* है।

इस आर्थिक अन्तरविरोध से युवा बुर्जुआ वर्ग का भूदासता के खिलाफ राजनीतिक संघर्ष जन्म लेता है। यह मानवाधिकारों की खोज तक ले जाता है।

सामन्तवाद के तहत एक अन्य आर्थिक अन्तरविरोध मुक्त व्यापार और भू सम्पत्ति पर सामन्ती विशेषाधिकार के बीच था। इस सिलसिले में मैं काउत्स्की¹ के एक आरम्भिक लेख का सहारा लूँगा—यह उनकी युवावस्था के दिनों का है, आज तो वह बहुत बदल चुके हैं। यह व्यापार के लिए शराब के एक पीपे को एमियंस से पेरिस ले जाये जाने से सम्बन्धित है। मान लें कि एमियंस में शराब के इस पीपे की कीमत 20 फ्रैंक बैठती है। लेकिन पेरिस में यह 50 फ्रैंक का पड़ेगा क्योंकि पीपे को ले जा रही गाड़ी को कई सड़कों से गुजरना पड़ता है जिन पर सामन्तों को तथाकथित चुंगी वसूलने का अधिकार है। सामन्त बिना कोई पूँजी निवेश किये, अपने वर्ग के पैतृक विशेषाधिकार की बदौलत सिर्फ सड़कों पर चुंगी वसूलकर मुनाफा कमा सकता था। सामन्तों की राय में ये विशेषाधिकार ईश्वर प्रदत्त थे। उद्यमी युवा लोगों का स्वतंत्रता का विचार इसका विरोधी था। स्वतंत्रता का यह आर्थिक विचार स्वतंत्रता की राजनीतिक अवधारणा से भी मेल खाता है जो फ्रांसीसी क्रान्ति में ‘राइट्स आफ मैन’ के रूप में अभिव्यक्त हुई। यानी हर सामाजिक ढांचे का उद्देश्य तीन प्राकृतिक एवं अलिखित मानवाधिकारों की रक्षा करना है। ये तीन अधिकार हैं स्वतंत्रता, सम्पत्ति एवं सुरक्षा और निरंकुशता का प्रतिरोध। यहाँ हमारे सामने इस बात का शानदार उदाहरण है कि किस तरह आर्थिक हित राजनीतिक रूप ग्रहण करते हैं और राजनीतिक रूप किस तरह *वेल्टनशाऊंग* में ढलकर अनमनीय चरित्र अखिलियार कर लेते हैं। ये सामान्य सिद्धान्त इसी रूप में सामान्य हैं कि वे पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली को सामान्य रूप से सम्भव बनाते हैं। लेकिन यह व्यवहार में लागू कैसे किये गये? निरंकुशता के प्रतिरोध के अधिकार को जल्दी ही तिलांजलि दे दी गई। सिर्फ सम्पत्ति का अधिकार बचा रह गया और इसका मतलब था बुर्जुआ अर्थ में व्यक्तिगत सम्पत्ति। आज, यानी 1931 में, उद्यमियों की आर्थिक स्वतंत्रता का यह विचार अब स्वतंत्रता की एक राजनीतिक अवधारणा से मेल खाता है जो उदाहरण के लिए, वाइमार संविधान में अभिव्यक्त होती है। उदाहरण के लिए यह कहता

है, “प्रत्येक जर्मन का आवास एक आश्रयस्थल है और अनुल्लंघनीय है।” यहाँ यह जोड़ना जरूरी है कि आवास आश्रयस्थल और अनुल्लंघनीय बने इसके लिए जरूरी है कि व्यक्ति के पास आवास हो या उसका खर्च उठाने की क्षमता हो। और उससे ऐसा कोई राजनीतिक अपराध नहीं होना चाहिए कि घर की तलाशी का वारंट जारी हो जाये। स्वतंत्रता की यह अवधारणा वाइमार संविधान में आगे कहती है : “प्रत्येक जर्मन को जमीन का एक टुकड़ा हासिल करने का अधिकार है।” यहाँ मैं जोड़ना चाहूँगा कि 99 प्रतिशत जर्मन जनता इस अधिकार का प्रयोग करने की स्थिति में नहीं है क्योंकि इसके लिए आवश्यक मुद्रा का अभाव है। आर्थिक हितों से निर्देशित और व्यवहार में लागू स्वतंत्रता की यह अवधारणा भी कुछ निश्चित आर्थिक सम्बन्धों को सम्भव बनाती है। यह बुर्जुआ कला उत्पादन, कला व्यवहार और इसलिए स्वाभाविक रूप से बुर्जुआ संगीत का आधार भी है। सामन्तवाद के तहत महान सांगीतिक संघर्ष “सच्चे संगीत के लिए संघर्ष” के झण्डे तले शुरू हुए जो सामन्तवाद के विरुद्ध बुर्जुआ वर्ग के तीखे संघर्ष को अभिव्यक्त करता था। इस संघर्ष के आरम्भ में बुर्जुआ वर्ग चर्च के साथ सीधे विरोध की स्थिति में था और इसलिए संगीत के सामन्ती कार्य का भी विरोधी था। संगीत का सामन्ती कार्य सभा में पश्चाताप की भावना जगाने और उसे तीव्र करने के सामाजिक उद्देश्य को सम्भव बनाना था लेकिन बुर्जुआ समाज में इसका नया कार्य निजी व्यक्तित्व के सुसंगत विकास में मदद करना है और यह सामन्ती कार्य के प्रत्यक्ष विरोध में है।

बुर्जुआ संगीत का यथासम्भव ठोस ढंग से वर्णन करने के लिए हमें कहना होगा कि “माल” शब्द जो पूँजीवाद में निर्णायक कारक है, संगीत के दायरे में भी फैल चुका है। कंसर्ट का रूप संगीत में माल सम्बन्धों के प्रवेश का द्योतक है। कंसर्ट के टिकटों की बिक्री, संगीत की स्वरलिपियों की बिक्री, संगीत विशेषज्ञ—संगीत के मालों के उत्पादक—ये सब इसी की अभिलाक्षणिक विशेषताएँ हैं।

बुर्जुआ वर्ग का शास्त्रीय कंसर्ट संगीत संगीत के मालों के खरीदार को लक्षित है और इसका उद्देश्य उसी का मनोरंजन करना है। यह स्पष्ट है कि एक ऐसी सामाजिक अवस्था में जो खुद को व्यक्ति की स्वतंत्रता (यानी उद्यमी की स्वतंत्रता और आर्थिक शक्तियों की स्वतंत्रता) के प्रमाण के रूप में पेश करती है, अब संगीत का वैसा कोई प्राकृतिक कार्य नहीं है जैसा सामन्ती समाज में था। कंसर्ट का यह रूप प्रत्यक्षतः तो सांगीतिक मनोरंजन के सामन्ती विशेषाधिकार का बिल्कुल विरोधी दिखाई देता है। लेकिन नजदीक से परीक्षण करने पर साफ हो जाता है कि यह सम्पत्ति के विशेषाधिकार का एक अपेक्षाकृत अधिक जनतांत्रिक स्वरूप मात्र है। कारण यह कि चर्च के कंसर्ट को जहाँ सिर्फ सामन्ती श्रोता ही सुन सकते थे, वही कंसर्ट के बुर्जुआ रूप में एक विशिष्ट पूर्वशर्त सामने आती है। यह है शिक्षा और प्रारम्भिक संगीत शिक्षा की शर्त। क्योंकि बुर्जुआ संगीत भी सार्वभौमिक संगीत नहीं बल्कि शासक वर्ग की कला है। बुर्जुआ और सर्वहारा के बीच वैषम्य जितना ही बढ़ता जाता है, संगीत में भी यह स्पष्ट वैषम्य उतना ही बढ़ता जाता है और पूँजीवाद के तहत यह चरम पर पहुँच जाता है। इस वैषम्य को आम तौर पर सरल और कठिन संगीत के अन्तर के रूप में रखा जाता है। यह भी दावा किया जाता है कि यह अन्तर गम्भीर और अगम्भीर संगीत का या गंभीर और सुगम संगीत का है। लेकिन ये सारे लेबल इस तथ्य को नहीं छिपा सकते कि यह अन्तरविरोध एक सामाजिक अन्तरविरोध से पैदा हुआ है। एक समय समस्त सांगीतिक विकास का ध्वजवाहक चर्च संगीत आज पृष्ठभूमि में धकेला जा रहा है। यह अब सामाजिक रूप से निर्णायक कारक नहीं रह गया है। इसका तकनीकी विकास कंसर्ट संगीत से निःसृत है और इस तरह इसका सामन्ती कार्य भी बदल रहा

है। बर्गर भी चर्च जाता है, क्योंकि वह चर्च से अपना झगड़ा काफी पहले खत्म कर चुका है और अब चर्च की विचारधारा का इस्तेमाल मजदूर वर्ग के खिलाफ उसी तरह करता है जिस तरह सामन्तवाद ने इसका इस्तेमाल बुर्जुआ वर्ग के खिलाफ किया था। आनन्द देने के संगीत के बुर्जुआ कार्य, निजी व्यक्तित्व के सुसंगत विकास और उत्थापन के कार्य से उन्नीसवीं शताब्दी में एकस्वरीय (homo-phonetic) संगीत का व्यापक विकास हुआ। आरम्भिक क्रान्तिकारी व्यक्ति इस बुर्जुआ संगीत विकास के शुरुआती दौर में अभिव्यक्ति पाता है। इस दौर को हम अठारहवीं सदी के मध्य में मैनहाइम स्कूल से मान सकते हैं। बुर्जुआ संगीत अपने उच्चतम शिखर पर बीथोवेन की सिम्फनियों में पहुँचा जिनमें आनन्द को फिर से एक तरह के दार्शनिक विश्व दृष्टिकोण से जोड़ा गया। जहाँ क्रान्तिकारी दौरों का क्रान्तिकारी बुर्जुआ संगीत सामन्तवाद के विरुद्ध संघर्ष में महान क्रान्तिकारी व्यक्ति को प्रतिबिम्बित करता है, वहीं उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यह निराश और सम्पत्ति बचाने में जुटे निम्न पूँजीपति वर्ग को भी प्रतिबिम्बित करने लगा। उदात्त भाव तुच्छतर और निम्नतर होते गये, वे अधिकाधिक अन्तरंग होते गये। बुर्जुआ वर्ग के पराभव और उभरते सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध इसका आक्रामक रवैया आनन्द को उत्तरोत्तर अपने आप में एक लक्ष्य बनाता गया, जो अधिकाधिक जटिल और मूल्यहीन था। ऊँचा स्थान पा चुके समकालीन बुर्जुआ कलाकार अत्यन्त महत्वपूर्ण और दंभी हो गये और सिर्फ एक छोटे अभिजात वर्ग के लिए माल उत्पादन करने लगे। कुछ कलाकार तो सिर्फ एक माल के उत्पादन में लग गये।

बुर्जुआ संगीत का यह विशिष्ट कार्य संगीत रचना की एक विशिष्ट तकनीक—एकस्वरता से मेल खाता है। यह बुर्जुआ शास्त्रीय संगीत के सांगीतिक विचारों की प्रस्तुति का ढंग है। यह वैषम्य को सर्वप्रथम और सर्वोपरि रखने के सिद्धान्त पर निर्मित हुआ है। यह सिद्धान्त उच्च स्तर की विविधता और मनोरंजन की गारंटी करता है। हार्मोनी के विकास और इसकी सैद्धान्तिक निष्पत्तियों ने वैषम्य (कंट्रास्ट) की नयी-नयी पद्धतियों को सम्भव बना दिया है। इसके अलावा वाद्य संगीत-विन्यास (इंस्ट्रुमेंटेशन) की तकनीक से भी कंट्रास्ट सुनिश्चित हो जाता है जिसने प्रस्तुति के सांगीतिक साधन के रूप में 'हैम्बर' (एक विशेष ध्वनि-रूप—अनु.) का प्रयोग शुरू किया है। वादन बेहद जीवन्त हो जाता है, आरोह-अवरोह के बारीक सोपान सामने आते हैं। यह शैली निजी अनुभव और निजी कल्पना को अपील करने के लिए अन्य किसी से भी ज्यादा उपयुक्त है। श्रोता को एक पूर्वनिर्धारित रुख अपनाने के लिए बाध्य नहीं किया जाता बल्कि उसे उद्दीप्त करने, उसका मनोरंजन करने और उसके लिए सम्बन्ध निर्मित करने की कोशिश की जाती है।

विकास की यह प्रक्रिया अन्य सभी कलाओं में पायी जाती है। यह विज्ञान में भी पायी जाती है। चर्च संगीत से कंसर्ट संगीत की तरह के ही विकास का एक उदाहरण है मध्य युग के स्कालेस्टिक दर्शन से अठारहवीं शताब्दी के विश्वकोषवादियों और आधुनिक बुर्जुआ दर्शन तक का विकास। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक बुर्जुआ संगीत में एक हद तक सर्वग्राही दृष्टिकोण था, एक तरह का सांगीतिक विश्व दृष्टिकोण था। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में बुर्जुआ संगीत में तीव्र संकट उसी समय उत्पन्न हुआ जब पूँजीवाद में संकट की शुरुआत हुई थी। मार्क्स ने अस्सी वर्ष पहले ही सभी राष्ट्रों के संकट के रूप में इस संकट की असाधारण तीव्रता की भविष्यवाणी कर दी थी, और आज हम इसे अपने सामने देख रहे हैं।

बुर्जुआ संगीत में व्याप्त अराजकता का चित्रण करने के लिए हमें उन अलग-अलग धाराओं को स्पष्ट करना होगा जो एक-दूसरे के साथ तीखे द्वन्द्व में उलझी हुई हैं। जर्मनी में संगीत

आन्दोलन का दाहिना बाजू—जिसका प्रतिनिधित्व राबर्ट शुमैन द्वारा लीपज़िग में शुरू की गई *ज़ाइट्शरिफ्ट फुर मुज़िक* पत्रिका करती है—वैग्नर से रिचर्ड स्ट्रास तक के समय का प्रतिनिधित्व करता है। वे बुर्जुआ संगीत के उस सर्वग्राही चरित्र के लिए अंतिम और कमजोर से योद्धा हैं, जो लगभग खत्म ही हो चुका है। वे *गेब्राँचमुज़िक*² का विरोध करते हैं, और व्यक्ति की आत्मा को झकझोरने और उसकी आत्मिक समृद्धि का, विश्व दृष्टिकोण वाली सिम्फनियों और सिम्फानिक रचनाओं का समर्थन करते हैं। वे बायें बाजू की तकनीकी प्रगति को खारिज करते हैं और मानते हैं कि एक छोटे ऐतिहासिक युग के मूल्य, शाश्वत हैं। राजनीतिक रूप से वे भी एक अधिक शक्तिशाली, युद्ध पूर्व के साम्राज्यवादी जर्मनी की कामना करते हैं, जो होहेनजोलर्न के नेतृत्व में हो तो और भी अच्छा हो। वे कंसर्टों के पक्ष में हैं; वे 1880-1914 की संगीत की स्थिति को पुनर्जीवित करना चाहते हैं। इस दायें बाजू का विशुद्ध पेशेवर स्तर बहुत नीचे है। मुख्यतः उनके पास संगीत के बारे में पुरानी पड़ चुकी धारणाएँ हैं और व्यापक निम्न पूँजीवादी जनसाधारण से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह स्थिति, वास्तविक संकट के बावजूद, उन्हें एक स्थिर सांगीतिक स्थिति के भ्रम में बनाये रखती है। यह उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में बुर्जुआ संगीत के उस रुख की पैरोडी भर है, जो कम से कम उत्पादक तो था। उनके सबसे काबिल चिन्तकों में से एक, हाइनरिख शेंकर³ तो विरोध में चले गये हैं क्योंकि वह सिर्फ शुबर्ट तक के संगीत को मंजूर करते हैं। संगीत के प्रश्नों पर यह दायां बाजू कितना राजनीतिक है, यह सिद्ध करने के लिए (यानी हम अभिशप्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी ही घृणित रूप से राजनीतिक नहीं हैं) मैं शेंकर की किताब *संगीत के नये सिद्धान्त* से उद्धृत कर रहा हूँ : “विश्व युद्ध का अन्त हुआ तो जर्मनी रणक्षेत्र में अविजित रहा, पर जनतांत्रिक पार्टियों ने उसके साथ विश्वासघात किया। ये पार्टियाँ जो हैं औसत दर्जे के लोगों की, अर्द्धशिक्षितों और अशिक्षितों के बेलगाम व्यक्तिवाद की, संयोजन की अक्षमता की, गैरजिम्मेदार मतवाद और रक्तपिपासु प्रयोगवाद की, जिनके साथ जुड़ा है आतंक, जनसंहार, धोखाधड़ी, जनता के बारे में झूठ, पश्चिम की नकल; और जिन्होंने हमारे दुश्मन पश्चिमी लोगों से स्वतंत्रता के उनके रूप का झूठ अपना लिया है। इस तरह कृलीनतावाद का आखिरी प्राचीर भी ढह गया है और प्रकृति खुद को जनतंत्र के सामने छली हुई पा रही है। जनतंत्र जो कि बुनियादी और अवयवी रूप से प्रकृति का शत्रु है। क्योंकि संस्कृति चयनात्मक होती है, मेधा की चमत्कारी उपलब्धियों के आधार पर होने वाला अगाधतम संश्लेषण।”

यह दायां बाजू, जिसमें निश्चित रूप से विभिन्न रंगतें और मत शामिल हैं, उन्नीसवीं शताब्दी के बुर्जुआ संगीत को बरकरार रखने और प्रचारित करने के लिए एक हताश संघर्ष चला रहा है। सिद्धान्त रूप में, वे हर नई बात का विरोध करते हैं।

बुर्जुआ संगीत के मोर्चे के केन्द्र का प्रतिनिधित्व *मुज़िकब्लैटर डेस आनबुच* जैसे पत्रों या *फ्रैंकफुर्टर ज़ाइटुंग* और *बर्लिनर टेगब्लैट* जैसे दैनिक अखबारों के संगीत स्तम्भों द्वारा होता है। राजनीतिक रूप से वे मोटा-मोटी *डायचे स्टार्टपाटी*⁴ से लेकर *डायचे वोक्सपाटी*⁵ या *ज़ेंट्रम पार्टी*⁶ तक के करीब हैं। यह समूह भी पुराने दिनों की याद में आहें भरता है लेकिन यथार्थ के प्रति अन्धा नहीं है। यह संकट को पहचानता है और एक हद तक परम्परा और प्रगति को मिलाने की कोशिश करता है। यह बीथोवेन और स्कूल (एक रूप में घराना-अनु.) संगीत का समर्थक है। यह विदेशी प्रभावों को शामिल करने का समर्थन करता है, यह आर्नल्ड शोनबर्ग तक को मंजूर कर सकता है और यह मजदूरों के संगीत आन्दोलन के भी एक सुधरे हुए रूप के पक्ष में है। यह आशा करता है कि हर चीज व्यक्तिगत मेधा की सृजनात्मक क्षमता और उनकी कृतियों की ऊंची गुणवत्ता

से उपजेगी। इस समूह ने शेंकर के इस मत को भी अपना लिया है कि संस्कृति चयनात्मक होती है, वह मेधा की चमत्कारी उपलब्धियों के आधार पर होने वाला अगाधतम संश्लेषण है। लेकिन यह समूह विकास को स्वीकार करता है और सबसे बढ़कर यह संगीत की समृद्धि का पक्ष लेता है। इस धारा के प्रतिनिधियों की राय में, जो वास्तव में अच्छा है वह अपनी जगह बना ही लेगा और अच्छा आधुनिक संगीत इसमें शामिल होगा। जो अच्छा है वह बस अच्छा है। इस समूह के सैद्धान्तिक हिरावल अपने आप से यह नहीं पूछते कि वे अपने मूल्य कहाँ से लेते हैं और न ही वे समाज में संगीत के स्थान के बारे में सवाल करते हैं।

बुर्जुआ संगीत आन्दोलन का बायाँ बाजू सबसे दिलचस्प है। यह यथार्थ पर प्रतिक्रिया करने में सबसे संवेदनशील और तेज है। यह अत्यन्त बहुमुखी है और *मेलोस* पत्र तथा स्त्राविंस्की एवं हिण्डेमिथ जैसे संगीतकार इसके प्रतिनिधि हैं। आप यहाँ तक कह सकते हैं कि वे बुर्जुआ संगीत के पतन के हिरावल हैं और तकनीकी रूप से इसका सर्वाधिक प्रगतिशील बाजू। आर्नल्ड शोनबर्ग जैसे संगीतकार को भी इस समूह में गिना जाना चाहिए। इस बाजू ने कंसर्ट-जीवन में संकट के प्रति अत्यन्त जीवन्त प्रतिक्रिया की है। चूँकि यथार्थ ने आनन्द के एक साधन के रूप में *वेल्टनशाऊंग* के सांगीतिक कार्य का अन्त कर दिया है, तो यह समूह एक कदम और आगे बढ़ गया। उन्होंने कहा कि संगीत को विश्व दृष्टिकोण को अभिव्यक्त नहीं करना चाहिए—हालाँकि यह बुर्जुआ वर्ग का एक प्रगतिशील विचार था—और *स्पाइलफ्रायड*⁷ तथा *ग्रेब्रांशमुज़िक*⁸ जैसे शब्द ढूँढ़ निकाले। इस तरह अप्रतिबद्ध मनोरंजन को प्रगति में गिना गया और यह स्वीकार्य हो गया। संगीत को महज सुरों का खेल होना चाहिए, इसे मानवीय भावनाओं को अभिव्यक्त नहीं करना चाहिए। एक नई कला मर्मज्ञता पैदा हुई, एक नई आत्मिकता, एक नया लालित्य और एक नया अप्रतिबद्ध उल्लास। संगीत की रचना इस तरह होनी चाहिए ताकि इसमें तुच्छता, दयनीयता और उदारता को जगह न मिले। आदर्श रूप से तो सबसे अच्छा होता कि यह ठण्डा हो और श्रोताओं के भीतरी भावों में हलचल न पैदा करे। जैसा कि वर्षों पहले स्त्राविंस्की ने कहा था—“सबसे अच्छा तो यह होता कि यह सिलाई मशीन की तरह चले।” पिछले दो वर्षों में, जर्मनी में तीव्र संकट के दबाव में इस बायें बाजू में जबर्दस्त बदलाव आया है और इसने एक बार फिर संगीत की आत्मा और एक नई गीतिमयता को पा लिया है।

बर्लिन में *स्पिलफ्रायड* के सूत्रधार पाल हिण्डेमिथ ने अपनी गीति कथा *अनवरत* का पहला प्रदर्शन देखा। यह गीति कथा एक उत्सुकता जगाने वाली रचना है क्योंकि यह दिखाती है कि बुर्जुआ वर्ग अपने सबसे गहरे संकट के समय में नये उद्दीपन की खोज में अपने विश्व दृष्टिकोण की ओर लौट रहा है। एक पतनशील दौर में नये उद्दीपन की तलाश में उस विश्व दृष्टिकोण को फिर से सामने लाया जा रहा है। और इसलिए शेंकर एवं न्यू *ज़ाइटशरिफ्ट* फुर *मुज़िक* से लेकर स्त्राविंस्की, हिण्डेमिथ और *बर्लिनर टेगब्लैट* तक ने मिलकर एक मोर्चा बना लिया है। लेकिन संगीत में बुर्जुआ वर्ग के इस संयुक्त मोर्चे की राह में कोई चीज खो गई और हमेशा के लिए नष्ट हो गई। अतीत में बुर्जुआ कलाकार एक पूर्ण और भरा-पूरा व्यक्तित्व होता था। पर वर्तमान समय में स्त्राविंस्की और हिण्डेमिथ जैसे हमारे संगीतकार इस बारे में काफी अनिर्णय में हैं कि उन्हें कैसी रचना करनी है। स्त्राविंस्की की प्रायः हर कृति या कृतियों का समूह एक भिन्न शैली में है। आधुनिक बुर्जुआ कलाकार बुर्जुआ व्यवस्था की बुनियाद की तरह ही लड़खड़ा रहा है। और इसीलिए यह नवीनतम उपलब्धि, बुर्जुआ संगीत का संयुक्त मोर्चा भी एक लड़खड़ाती हुई एकता ही है।

बड़े पूँजीपति वर्ग के संगीत आन्दोलन के इन तीन समूहों के मुकाबले जोड़ी⁹ के नेतृत्व

वाले लोक संगीत आन्दोलन और सामाजिक जनवादियों की संगीत सम्बन्धी गतिविधियां हैं। व्यवहार में उनका सरोकार मुख्यतः पुराने चर्च संगीत और लोक संगीत का परिष्कार करने से है। इसके पीछे वास्तविक राजनीतिक कारण भी हैं। मैं यहाँ जोड़ी का सिर्फ एक वाक्य उद्धृत करना चाहूँगा : “लोक गीतों को पुनर्जीवित करके युवाओं को राजनीति से दूर ले जाओ।” सामाजिक जनवादियों की सुधारवादी गतिविधियां बुर्जुआ-जनतांत्रिक केन्द्रवादी समूह की कमजोर नकल मात्र हैं। वे कंसर्ट संगीत और जोड़ी के, स्ट्राविंस्की और रिचर्ड स्ट्रास के हिमायती हैं। दरअसल वे हर चीज की हिमायत करते हैं। वे सोचते हैं कि संगीत के किसी किस्म के रहस्यमय से प्रभाव से काफी कुछ निकलेगा। मंत्रालय के सलाहकार प्रोफेसर केस्टनबर्ग की सबसे उल्लेखनीय सलाह यह है कि मजदूर को “खुलकर गाने” के जरिये खुद को मुक्त करना चाहिए। इस सुधारवादी मजदूर संगीत आन्दोलन के भीतर एक बायां बाजू भी है—यह मजदूरों द्वारा गठित विरोध पक्ष है। लेकिन हाल में उनमें से कुछ को डी.ए.एस.बी. यानी जर्मन वर्कर्स कोरल सोसायटी जैसे मजदूर वर्ग के बड़े संगीत संगठनों से बाहर निकाल दिया गया है। सुधारवादियों का कहना है कि उन्हें राजनीतिक नहीं बल्कि औपचारिक कारणों से निकाला गया है। सम्भवतः विरोधी पक्ष ने किसी मौके पर किसी नियम का उल्लंघन किया था जिसका फायदा उठाकर मजदूरों के संगीत आन्दोलन के सबसे जीवन्त और सबसे प्रगतिशील हिस्सों को उनके ही संगठनों से बाहर कर दिया गया।

संगीत की सम्भावनाएं क्या हैं, किस वर्ग में नई पद्धतियों की रचना होगी, कौन सा वर्ग जीवन और कला के बीच, व्यवहार और सिद्धान्त के बीच नये सम्बन्धों की रचना करेगा? अपनी आर्थिक स्थिति के चलते किस वर्ग की संगीत के एक नये कार्य में अत्यन्त फौरी रुचि है। नया संगीत भौतिक क्रान्ति के जरिए नहीं जन्म ले सकता, यह केवल उन सामाजिक परिवर्तनों के जरिए पैदा होगा जिनमें एक नया वर्ग सत्ता सम्हालेगा और जिनमें कला का भी एक नया सामाजिक कार्य होगा। वैज्ञानिक पद्धतियों को लागू करने पर इस प्रश्न का उत्तर मिलता है। क्रान्तिकारी सर्वहारा वह एकमात्र वर्ग है जिसे नई पद्धतियों की जरूरत है और जिसके लिए संगीत के कार्य में परिवर्तन एक अनिवार्य आवश्यकता है। सत्ता के लिए संघर्ष और समाजवाद के निर्माण की प्रक्रिया में वे व्यवहार के दौरान नई पद्धतियां तलाशेंगे—और कुछ पा भी ली गई हैं। इनमें एक समाजवादी संगीत संस्कृति की पद्धतियों के पहले आधार भूण रूप में मौजूद हैं। इस विकास को पूरी तरह समझने के लिए मजदूरों के संगीत आन्दोलन के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा देना जरूरी है।

मजदूरों का संगीत आन्दोलन

मजदूरों के बीच संगीत रचना की पहली अवस्था बुर्जुआ वर्ग की तुलना में इसके “उच्च” सांस्कृतिक स्तर के लिए नहीं बल्कि उनके द्वारा संगीत के मौलिक प्रयोग के लिए उल्लेखनीय है। निश्चित रूप से, संगीत समितियों (सोसायटियों-अनु.) का रूप बुर्जुआ वर्ग से लिया गया था लेकिन मेहनतकश लोगों के पहले संगीत संगठनों और बुर्जुआ संगठनों में बुनियादी अन्तर थे। मुख्य अन्तर तो यह था कि 1860-70 के आसपास जर्मनी में बनने वाली मजदूरों की पहली वृंदगान मंडलियों (कोरल सोसायटियों-अनु.) के सामने एक वास्तविक राजनीतिक कार्यभार था। समाजवाद विरोधी कानूनों के तहत गैरकानूनी राजनीतिक संघर्ष के दौर में वे राजनीतिक गतिविधि के लिए एक आवरण के समान थीं। प्रकटतः विशुद्ध सांस्कृतिक संगठन के जुझारू चरित्र का पता इसी बात से चलता है कि गठन के तुरन्त बाद ही उनपर पुलिस की निगरानी लगा दी गई और

अन्ततः उन्हें दबा दिया गया। यह हमें संस्कृति के प्रति सर्वहारा के क्लासिकीय रुख की शिक्षा देता है। अवकाश के जरिए—यहाँ संगीत गतिविधियों के जरिए—श्रमशक्ति का पुनरुत्पादन करने की बाध्यता के चलते यह सांस्कृतिक संगठन तत्काल ही मजदूरों की वर्गीय स्थिति में खिंच आते हैं और जुझारू चरित्र अख्तियार कर लेते हैं। ठीक यही चीज उनके लिए यह असम्भव बना देती है कि वे खुद को सिर्फ बुर्जुआ लाइडरटाफेल साहित्य तक सीमित रखें जो सिर्फ व्यक्ति के प्रकृति से सम्बन्ध, प्रेम, Gemütlichkeit, विनोदशीलता आदि का चित्रण करता है। अपने संगठन की हिफाजत करने की बाध्यता से उन्हें आक्रामक रुख अपनाना होता है जो सांस्कृतिक मामलों में आन्दोलन और प्रचार के रूप में सामने आता है। इसी ने आगे चलकर संगीत के एक विशिष्ट रूप टेंडेन्ज़लाइड (Tendenzlied) को जन्म दिया।

उत्पादन प्रक्रिया में एकतरफा तौर पर जुटे रहने के कारण मजदूर अभी तक इस स्थिति में नहीं थे कि खुद ही सांस्कृतिक रूप से प्रभावी हो सकें। उस समय उन्होंने संगीत की नई दिशा तो नहीं स्थापित की पर उन्होंने एक नई पद्धति जरूर शुरू कर दी। जहाँ तक उनकी सांगीतिक सामग्री का सवाल है, बुर्जुआ सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह एक ऐसी शैली थी जिसे बुर्जुआ वर्ग के उन्नत तबकों द्वारा पुराने ढंग का और हास्यास्पद माना जाता था। अगर किसी ने 1880 में यह कहा होता कि मजदूरों के ये कुछ बेढंगे से और खुल्लमखुल्ला 'लाल' गीत वे साधन थे जिनके द्वारा मजदूर जर्मन शास्त्रीय संगीत की महान विरासत को धारण करेंगे, तो यह बात सर्वाधिक विवेकपूर्ण व्यक्ति को भी बकवास ही लगती। लेकिन यह सही है क्योंकि इतिहास ने हमें सिखाया है कि हर नई संगीत शैली किसी नये सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से नहीं पैदा हुई है और इसलिए किसी भौतिक क्रान्ति का प्रतिनिधित्व नहीं करती है बल्कि सामग्री में परिवर्तन समाज में संगीत के समग्र कार्य में ऐतिहासिक रूप से आवश्यक परिवर्तन की शर्त है।

हमें मजदूरों के संगीत आन्दोलन के आरम्भिक दौर में भी बार-बार दोहराया जाने वाली इस प्रक्रिया को पहचानना होगा। केवल धुंधली सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि और द्वन्द्वात्मक रूप से अशिक्षित दिमाग वाले लोग ही संगीत के कार्य में परिवर्तन के इन छोटे-छोटे चिन्हों को पहचानने से चूक सकते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में वर्ग सचेत मजदूरों की स्थिति को देखते हुए कार्य में यह परिवर्तन छोटा ही हो सकता था। जिस समय विज्ञान अभी सिर्फ प्रचार के काम में लगा हुआ था, जिस समय सामाजिक दबाव और बेरोकटोक पूँजीवाद व्यापक आबादी को मार्क्सवाद के लिए तैयार कर रहे थे, वैसे में इस बात को समझा जा सकता है कि मजदूरों की कला अभी प्रगतिशील विचारों को प्रतिबिम्बित करने में सक्षम नहीं थी। उस समय टेंडेन्ज़कुंस्ट (Tendenzkunst) एक ऐसी कला थी जिसे वर्ग सचेत मजदूर गैर वर्ग-सचेत मजदूर के सामने प्रस्तुत करता था। इसका उद्देश्य दोनों को झकझोरना, वर्गीय मूल-भावनाओं को जगाना और उन्हें वर्ग संघर्ष में खींच लाना था। इसलिए संगीत और शब्दों को इस तरह का होना होता था जो गैर वर्ग-सचेत मजदूर को तथा व्यक्ति की भावनाओं को अपील करे। यह नियोजित प्रचार कार्रवाई के पहले का कदम था।

1880 से 1914 के बीच के वर्षों में बड़ी संख्या में ऐसी कृतियां मुखर साहित्य में आईं, सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यांकन के अनुसार जिनका आशय था बुर्जुआ वर्ग की पिछड़ी संगीत शैली को अपनाना। आज हम जानते हैं कि यह एक ऐतिहासिक सीमा थी क्योंकि बुर्जुआ वर्ग आधुनिक औद्योगिक सर्वहारा को जो शिक्षा उपलब्ध कराता है वह उसे सिर्फ शोषण के लिए अनुकूलित करती है और सर्वहारा को उस चीज से लैस नहीं करती जिसे बुर्जुआ कलाकार गहरा कला बोध कहते हैं। इसलिए गायकों और श्रोताओं दोनों को दी जाने वाली संगीत सामग्री काफी सरल ही हो सकती थी और इसका विन्यास ऐसा होना चाहिए था जो श्रोताओं में विशुद्ध भावनात्मक

प्रभाव पैदा करे। मजदूरों की इस विशुद्ध व्यावहारिक कलात्मक गतिविधि के साथ-साथ हमें एक और आकांक्षा का परीक्षण करना चाहिए।

यह राष्ट्रीय शिक्षा का पुराना विचार है जिसे संगीत के क्षेत्र में लागू करने का मतलब होगा सामन्तवाद और बुर्जुआ वर्ग के संगीत पर मजदूरों द्वारा अधिकार कर लेना। शुरुआत से ही इसका नाकाम होना तय था क्योंकि मजदूरों की आर्थिक स्थिति उनके लिए कला के प्रति बुर्जुआ वर्ग जैसा ही रुख अपनाता असम्भव बना देती है। यह हर सुधारवादी कार्रवाई की पुरानी गलती है जो फिर समझौते तक ले जाती है और जिसका अनिवार्य परिणाम होता है सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से मूल्यवान सामग्री और राजनीतिक रूप से मूल्यवान सामग्री को आमने-सामने खड़ा कर देना। अनजाने ही सही, यह बुर्जुआ वर्ग को फायदा पहुंचाता है।

यह स्पष्ट है कि हमें इन सुधारवादी आकांक्षाओं से भी लड़ना होगा। लेकिन मजदूरों को सिर्फ इसी से खतरा नहीं है। उन्हें कला के उस भोंडे निम्न पूँजीवादी दृष्टिकोण से भी खतरा है जो बुर्जुआ वर्ग के तबकों से मजदूरों के बीच घुसपैठ करता है। हमें याद रखना चाहिए कि आपरेटा, हिट सांग, छद्म और असली लोक गीत समाज के सभी तबकों की बड़ी आबादी द्वारा सुने जाते हैं और यहाँ मजदूरों के सामने उतना ही बड़ा खतरा है जितना कि संगीत में मौजूद वर्गदम्भ से है। शास्त्रीय संगीत की समझ और उसमें रुचि पैदा करना उचित है बशर्ते इसका इस्तेमाल हल्के मनोरंजन संगीत को खत्म करने के लिए किया जाये। मनोरंजन संगीत के मुकाबले शास्त्रीय संगीत के लाभ स्पष्ट हैं क्योंकि यह मेहनतकश वर्ग के श्रोताओं से सजग होकर सुनने की मांग करता है जबकि मनोरंजन संगीत ऐसी कोई मांग नहीं करता बल्कि आलसीपन और दिमाग को ढीला छोड़ देने का भाव पैदा करता है। बुर्जुआ संगीत की महान कृतियों की प्रस्तुति के द्वारा मजदूर वर्ग के श्रोताओं पर इस खतरे को दूर करना जरूरी है। लेकिन अगर इसके परिणामस्वरूप मजदूरों में टेंडेंज़मुज़िक (सर्वहारा संगीत) के प्रति नकारात्मक रवैया पैदा हो गया तो यह लाभ बेहद गम्भीर नुकसान में भी तब्दील हो सकता है।

मजदूरों के संगीत आन्दोलन को राजनीतिक संघर्षों में सोच के स्तर तक उठाने के लिए यह जरूरी है कि बुर्जुआ संगीत गतिविधियों के रूपों की आलोचना की जाये और उनका अब गैर-आलोचनात्मक ढंग से कतई इस्तेमाल न किया जाये। साथ ही मजदूरों की नई सामाजिक स्थिति का भी विश्लेषण किया जाना चाहिए।

पुराने टेंडेंज़मुज़िक के सामने वर्ग-सचेत मजदूर द्वारा गैर वर्ग-सचेत मजदूर को अपने पक्ष में करने का कार्यभार था। लेकिन आज की राजनीतिक स्थिति भिन्न है। मजदूरों की व्यापक आबादी के पास अपने संगठन हैं, ट्रेड यूनियनें, पार्टियां, सांस्कृतिक और खेल संगठन। ये संस्थाएँ सही क्रान्तिकारी अवस्थिति तय करने के लिए लगातार संघर्ष चला रही हैं। रणकौशल का सवाल मजदूर वर्ग के लिए प्रासंगिक हो गया है। जब यह सवाल अनावश्यक हो जायेगा, यानी जब सही रणकौशल अपनाया जायेगा, तभी क्रान्ति विजयी होगी। टेंडेंज़कुस्ट, जो 1880 के मजदूर संगीत आन्दोलन के दृष्टिकोण की यांत्रिक ढंग से नकल करता है, अपने बीच कुछ कलात्मक दृष्टि से प्रगतिशील तत्वों के बावजूद निरर्थक और प्रतिक्रान्तिकारी है। लम्बे दौर में यह प्रतिगामी सिद्ध होगा क्योंकि यह मजदूर आन्दोलन के भीतर के तमाम अन्तरविरोधों की अनदेखी करता है। टेंडेंज़मुज़िक का काम यह नहीं हो सकता कि वह जुझारू मजदूरों की भावनाओं को निरुद्देश्य ढंग से झकझोरता रहे। इससे स्थिति में कोई बदलाव नहीं आयेगा। इस तरह के संगीत का स्थान एक ऐसी क्रान्तिकारी कला को लेना चाहिए जिसका मुख्य चरित्र जुझारू और शिक्षात्मक हो। इसके लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिन्तन पद्धति और पिछले अस्सी

वर्षों में इसके परिणामों पर सोचना होगा, पिछले बीस वर्षों के क्रान्तिकारी अनुभव के बारे में सोचना होगा।

एक ऐसे समाज में, जहाँ व्यापक जनता वर्ग संघर्ष की आवश्यकता पर तो एक है लेकिन इसे कैसे चलाया जाये, किन तरीकों और साधनों से चलाया जाये, इस पर बंटी हुई है, पहली बार कला समाज का महान शिक्षक बन सकती है। कला को वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त और अनुभवों को ताकतवर और प्रभावशाली छवियों में चित्रित करना होगा। बुर्जुआ कला का मुख्य उद्देश्य आनन्द है। मजदूर वर्ग अपने वर्गीय इतिहास के जटिलतम और कठिनतम दौरों में से एक से गुजर रहा है; इसकी अपनी कतारों में तमाम अन्तरविरोध हैं। फिर भी सत्ता पर कब्जा करने का वास्तविक कार्यभार इसके सामने है और इसने फिर से कला को अपना महान मित्र बनाया है। कला, जिसका कार्य बदल रहा है। आनन्द, जो मुख्य उद्देश्य था, अब एक उद्देश्य का साधन बन गया है। कला अब महज लोगों की सौन्दर्य की प्यास को नहीं बुझाती, बल्कि यह सौन्दर्य का प्रयोग व्यक्ति को शिक्षित करने के लिए करती है, मजदूर वर्ग के विचारों और वर्ग संघर्ष की वास्तविक समस्याओं को बोधगम्य और प्राप्य बनाने के लिए करती है।

संगीत अब अपने सौन्दर्य से वेश्यावृत्ति नहीं कराता बल्कि प्रत्येक व्यक्ति के गड्डमड्ड भावों में व्यवस्था और अनुशासन लाता है। हम देख सकते हैं कि कला के कार्य में एक नया और महान परिवर्तन आयेगा। वर्ग इतिहास की सबसे कठिन स्थिति में एक शिक्षक, एक शस्त्र के रूप में सामने लायी गई कला उस सबको छोड़ चुकी है जिसे बुर्जुआ कलाकार “सुन्दर” कहता है। एक वर्गविहीन समाज में कला का नया कार्य उल्लेखनीय स्तर तक इसकी शुरुआत में ही निहित है।

मजदूरों के संगीत आन्दोलनों में अमल में लायी जा रही नई पद्धतियों पर मैं यही कहना चाहूँगा कि इसके लिए कोई तैयार नुस्खा नहीं दिया जा सकता। मजदूरों के संगीत आन्दोलन में विशेषज्ञों का यह काम है कि वे क्रान्तिकारी कला के नये कार्यों में निहित भौतिक परिवर्तनों का परीक्षण करें। साथ ही मजदूरों की व्यापक आबादी और उनके पदाधिकारियों को अपने विशेषज्ञों को बाध्य करना चाहिए कि वे यह विश्लेषण जरूर करें और इसके नतीजों को अमल में लागू करके उनका नियंत्रण तथा आलोचनात्मक परीक्षण करें।

निष्कर्ष के तौर पर मैं कहना चाहता हूँ: समाजवाद का अर्थ है समाज में विवेक का प्रवेश। अगर हम—और हमसे मेरा मतलब है सर्वहारा के हिरावल, क्रान्तिकारी मजदूर—वास्तव में सत्ता पर कब्जा करना चाहते हैं, इसके बारे में सिर्फ एक अस्पष्ट और दूरस्थ स्वप्न के रूप में बात नहीं करना चाहते, तो हमें एक ऐसी कला के व्यवहार को प्रचारित करना होगा जो अपनी नई पद्धतियाँ क्रान्तिकारी मजदूरों के रोजमर्रा के संघर्षों से लेती है। लेकिन इसे सिर्फ उनकी पीड़ाओं और चिन्ताओं को ही नहीं प्रतिबिम्बित करना चाहिए, जैसा कि सुधारवादी और “सामाजिक” कलाकार सोचते हैं, बल्कि इसे जर्मनी के भूखे और गरीब लोगों की व्यापक आबादी द्वारा सत्ता पर अधिकार करने के सही तरीकों को स्पष्ट करना चाहिए। सत्तर साल पहले, जब जर्मन मजदूर अभी फटेहाल सी स्थिति में और संस्कृति से च्युत था, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के क्लासिकीय लेखकों में से एक फ्रेडरिक एंगेल्स ने घोषणा की थी कि इन्हीं बदबख्त स्त्री-पुरुषों का वर्ग, जो आज बर्बर अवस्था में जी रहे हैं, एक दिन वह एकमात्र वर्ग होगा जो जर्मनी में क्लासिकीय दर्शन की विरासत को धारण करने और आगे बढ़ाने के लिए सामने आयेगा। यह सुनकर उस समय के सभी प्रोफेसरों के हंसी के मारे पेट में बल पड़ गये थे। और मैं एंगेल्स की भविष्यवाणी को संगीत में लागू करता हूँ और यह मानता हूँ कि मजदूर, यानी यहाँ डसेलडोर्फ में रूर के खदान

मजदूर, सोलिंगेन के धातु मजदूर, हेक्स्ट के रसायन मजदूर, यही वह एकमात्र वर्ग है जो हमारी आंखों के सामने हो रहे बुर्जुआ वर्ग की संगीत संस्कृति के क्षरण और पतन के बाद महान बुर्जुआ संगीत की विरासत को उत्कंठापूर्वक स्वीकार करेगा और आगे बढ़ायेगा। इसी वर्ग से समाजवाद की नई संगीत संस्कृति के निर्माता सामने आयेंगे।

प्रगतिशील बुर्जुआ संगीतकारों से इतना ही कहा जा सकता है कि संगीत की नई पद्धतियां बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध क्रान्तिकारी मजदूरों के रोजमर्रा के संघर्ष में ही उभरेंगी; और एक नई संगीत संस्कृति तभी निर्मित होगी जब जर्मनी के मजदूर सत्ता पर काबिज होंगे और समाजवाद का निर्माण करेंगे।

टिप्पणियाँ :

1. कार्ल काउत्स्की (1854-1938), जर्मन सामाजिक-जनवादियों के एक प्रमुख सिद्धान्तकार, बाद में मार्क्सवाद से दूर चले गये और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के विचार को खारिज किया। लेनिन ने उनके प्रतिक्रान्तिकारी विचारों की विस्तृत आलोचना की है।

2. गेब्रॉचमुज़िक Gebrauchsmusik (उपयोगी संगीत) - इस शब्द का प्रयोग 1920 के दशक में उस संगीत के लिए किया जाता था जो कंसर्ट में नहीं प्रस्तुत किया जाता था बल्कि खास कामों में उपयोग में आता था, जैसे थियेटर या फिल्म, सामाजिक अवसरों आदि के लिए।

3. हाइनरिख शेंकर (Heinrich Schenker), Neue Musikalische Theorien and Phantasien, 2nd vol., Vienna\ Liepzig, 1922

4. जर्मन स्टार्ट पार्टी (Deutsche Staatspartie) 1930 में जर्मन डेमोक्रेटिक पार्टी के महत्वपूर्ण हिस्सों और प्रतिक्रियावादी समूहों द्वारा गठित। 1932 के आम चुनाव में इसका लगभग सफाया हो गया।

5. जर्मन पीपुल्स पार्टी (Deutsche Volkspartie) बुर्जुआ पार्टी, 1918-1933 (भारी उद्योग एवं वित्त द्वारा समर्थित); 1920-21 और 1922-30 तक सरकारी पार्टी; प्रमुख नेता गुस्ताव स्ट्रेसमैन

6. सेंटर पार्टी (Zentrum Party), 1871 में गठित मुख्य बुर्जुआ कैथोलिक पार्टी

7. स्पीलफ्रायड, स्पीलमुज़िक (spieľfreude, spieľmusik),—ये शब्द 1920 एवं '30 के दशक के खास किस्म के संगीत के द्योतक हैं (हिण्डेमिथ, बटिंग आदि) जिसे आइसलर ज्यादा ही "प्रमुदित" और "यांत्रिक गति वाला" मानते थे।

8. फ्रिट्ज़ जोडी, (Fritz Jode), 1887-1970, जर्मनी में युवाओं के बीच बुर्जुआ संगीत आंदोलन का महत्वपूर्ण प्रतिनिधि। उसने युवाओं के बीच लोक संगीत की परम्परा और प्रथाओं को जिन्दा रखने का मूल्यवान प्रयास किया लेकिन क्रान्तिकारी मजदूर वर्गीय संगीतकारों ने लोक संगीत पर उसके निम्न-पूँजीवादी दृष्टिकोण और उस समय के सामाजिक संघर्षों में उसकी गैर-भागीदारी के लिए उसकी आलोचना की।

9. लिओ केस्टेनबर्ग (Leo Kestenberg), 1882-1962, पियानोवादक और संगीत शिक्षक, प्रशा के संस्कृति मंत्रालय में 1919-32 तक संगीत सम्बन्धी मामलों के सलाहकार के रूप में काम किया; बुर्जुआ-जनवादी, सर्वतोमुखी संगीत शिक्षा के समर्थक; 1933 में देश छोड़ने के लिए बाध्य किये गये।

अनुवाद : सत्यम

साहित्य में अवसरवादी घटाटोप के सामाजिक-आर्थिक कारण

● कविता कृष्णापल्लवी

कथित वामपंथी धारा के साहित्यिक परिदृश्य पर अवसरवाद का अद्भुत बेशर्मा घटाटोप छाया हुआ है। कुछ दशकों पहले कुछ थोड़े लोग हुआ करते थे जो रात के अँधेरे में छुपकर सत्ता संग सेज सजाते थे और भाण्डा फूट जाने पर दिन के उजाले में कुछ दिनों तक शर्माये-शर्माये घूमते थे। अब माहौल बदल चुका है। डोमाजी उस्ताद के जुलूस में साहित्यिक-बौद्धिक जन पहले रात के अँधेरे में शामिल होते थे। अब ऐसे जुलूस दिन-दहाड़े निकलते हैं। सत्ता और पूँजी के संस्कृति प्रतिष्ठानों के साथ दिन-दहाड़े सौदेबाजियाँ होती हैं। चतुर्दिक पद-पीठ-पुरस्कार की आपाधापी मची रहती है। “वैचारिक-लोकतंत्र” के तर्क को इतना लचीला बना दिया गया है कि बच्चों और मानवता के भविष्य और युद्धों की विभीषिका को लेकर कविता में चिन्तातुर मुद्रा अपनाने वाले लोग हिन्दुत्ववादी फासिस्टों की सरकार के आयोजन में बेशर्मा के साथ शिरकत करते हैं और गिरोहबन्द होकर अपना बचाव करते हैं। हम्माम में नंगों की संख्या इतनी अधिक है कि शर्माने के बजाय एकजुट होकर वे कपड़े पहने लोगों पर हल्ला बोलने लगे हैं। अब कम ही लोग हैं जो खुले गले से मुक्तिबोध की तरह यह प्रश्न पूछते होंरू “पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?”

अवसरवाद की ढलान पर जारी इस यात्रा में रायपुर में रमनसिंह सरकार के साहित्यिक महोत्सव में कई जाने-माने प्रगतिशील-सेक्युलर- वामपंथी साहित्यकारों की भागीदारी की घटना एक नया मील का पत्थर है। रमन सिंह उसी राजनीति के एक प्रमुख सिपहसालार हैं जिसने आडवाणी की रथयात्रा के बाद लगातार पूरे देश में कई भीषण रक्तपातपूर्ण दंगों के कुचक्र रचे। इसी राजनीति के वाहक गुजरात-2002 के अमानुषिक रक्तपात के सूत्रधार थे। यही सरकार है जो माओवाद के खात्मे के नाम पर बस्तर के सैकड़ों

गाँवों के हज़ारों आदिवासी परिवारों को उजाड़ चुकी है और लगातार वहाँ बर्बर अत्याचारों के नये-नये कीर्तिमान रच रही है। उसी सरकार को लोकतांत्रिक और सहिष्णु सिद्ध करते हुए उसके आयोजन में वामपंथ को रोज़ पानी पी-पीकर गाली देने वाले अशोक वाजपेयी और उन जैसों के साथ प्रगतिशीलता की दुशाला ओढ़े रहने वाले जगदीश्वर चतुर्वेदी, पुरुषोत्तम अग्रवाल, नरेश सक्सेना, आदिवासियों दलितों के स्वयम्भू साहित्य मसीहा रमणिका गुप्ता, प्रभात रंजन और हाल ही में साहित्यकाश पर खद्योत सम भुक्भुकाने वाले दर्जनों गलीज किस्म के नौबट “युवा तुर्क” शोभायमान हुए।

एक जमाना था जब फोर्ड फाउण्डेशन द्वारा वित्तपोषित भारत भवन में अर्जुन सिंह के प्रिय नौकरशाह साहित्यकार अशोक वाजपेयी एक कुशल बहेलिये की तरह कई वामपंथी साहित्यकारों को तरह-तरह के लालच देकर फँसाने में कामयाब हुए थे। उससमय भी भारत भवन कुचक्र के आलोचकों की संख्या अच्छी-खासी हुआ करती थी। बाद में भारत भवन लाभान्वितों में से बहुतेरे शर्मिन्दा भी हुए, अलगाव के शिकार भी हुए, कुछ ने पश्चाताप भी किया और कुछ ने पाप-प्रक्षालन के कुछ उपक्रम भी किये। अब देश में केन्द्र और राज्य सरकारों के संस्कृति प्रतिष्ठानों और अकादमियों के रूप में कई “भारत भवन” हैं, पूँजीपति घरानों के कई-कई पुरस्कार और सम्मान हैं, एन.जी.ओ. वाले भी साहित्यकारों को भाव दे रहे हैं, विश्वविद्यालयों में उनके लिए नये-नये विशेष पद और पीठ सृजित हो रहे हैं। जिससमय समाज में जनवादी स्पेस ज़्यादा से ज़्यादा क्षरित और संकुचित होता जा रहा है, उसीसमय सत्ता साहित्यकारों-बुद्धिजीवियों-कलाकारों को पूर्वापेक्षा ज़्यादा भाव दे रही है क्योंकि उसे पता है कि विचारों के धरातल पर “सहमति का निर्माण” करने में और व्यवस्था की चौहद्दी के भीतर “असहमति” का लोकतांत्रिक छद्म रचने में व्यवस्था द्वारा सहयोजित प्रगतिशील मुखौटे वाले बुद्धिजीवियों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण हो सकती है।

पूँजीवादी सत्ता की नीतियों में आये परिवर्तन से भी अधिक उन सामाजिक-आर्थिक कारणों का अध्ययन महत्वपूर्ण है, जिनके कारण बुद्धिजीवियों का बड़ा हिस्सा आज आसानी से व्यवस्था द्वारा खरीद-फरोख्त, सौदेबाज़ी और सहयोजन का सहर्ष शिकार होने लगा है। यह अनायास नहीं है कि 1990 के दशक में नवउदारवाद की चौतरफा लहर के बाद यह परिघटना ज़्यादा बड़े पैमाने पर, एक आम प्रवृत्ति बनकर उभरी है। नब्बे के दशक की शुरुआत में कवि कंदारनाथ सिंह ने तमाम वामपंथी साहित्यकारों और ज.ने.वि. के छात्रों के विरोध के बावजूद उन पूँजीपतियों के प्रतिष्ठान से सम्मान ग्रहण किया, जिनपर शहीद शंकर गुहा नियोगी की हत्या का षडडंत्र रचने का अभियोग था। फिर जल्दी ही सबकुछ भुला दिया गया और कंदारनाथ सिंह वाम दायरे में भी समादरणीय माने जाते रहे। फिर तो जैसे शर्मो-हया के सारे परदे ही हटते चले गये। फासिस्ट योगी आदित्यनाथ से सम्मान ग्रहण करने वाले उदय प्रकाश, पहले भाजपाई मुख्यमंत्री नित्यानन्द स्वामी को अपना पिता बताने वाले और फिर उत्तराखण्ड की कांग्रेसी सरकार की हिमालय में बाँध-निर्माण की विनाशकारी नीति की वकालत करने वाले लीलाधर जगूड़ी, आर.एस.एस. के राममाधव से लेकर बिहार के बाहुबली नेता पप्पू यादव तक के पुस्तकों का विमोचन करने वाले और छत्तीसगढ़ के हत्यारे डी.जी.पी. विश्वरंजन को महत्वपूर्ण कवि घोषित करने वाले, राजकमल प्रकाशन के मालिकों के घर के “रामू काका” (विष्णु खरे के शब्दों में) नामवर सिंह, स्त्रियों के प्रति अपने मर्दवादी उदगारों और लम्पट व्यवहार के लिए कुख्यात और म.गा.हि.वि. में दारोगा की तरह कुलपतिगिरी कर चुके विभूति नारायण राय, उनके हमप्याला-हमनिवाला

पुराने अवसरवादी रवीन्द्र कालिया, राय साहब के जमाने में म.गा.हि.वि.वि. में कोई पद या शोधवृत्ति लेकर मस्ती काटने वाले दर्जनों लेखक-कविगण, हत्यारे विश्वरंजन के साहित्यिक आयोजन की शोभा बढ़ाने और विभूति नारायण राय से उपकृत होने के बाद पटना जाकर नीतिश सरकार के सरकारी सांस्कृतिक प्रतिष्ठान के अध्यक्ष पद से नवाजे जाने वाले किसी जमाने के “महा क्रान्तिकारी” अग्निमुखी कवि आलोकधन्वा, भाजपा सांसद विद्यानिवास मिश्र के जन्मदिन पर स्वामी करपात्री के आश्रम में विद्याश्री न्यास के तत्वावधान में आयोजित लेखक शिविर के आयोजन में अग्रणी भूमिका निभाने वाले जलेस, प्रलेस और जसम की वाराणसी इकाई के कर्ताधर्तागण, विश्वरंजन के आयोजन में भागीदारी और अपनी पत्नी की पिटाई करने के लिए प्रसिद्धकृष्णमोहन, शोध छात्रा के यौन उत्पीड़न के आरोपी अजय तिवारी, सैफई महोत्सव में जाकर मुलायम सिंह की भूरि-भूरि प्रशंसा करने वाले केदारनाथ सिंह, अखिलेश सरकार से लखटकिया भारत-भारती पुरस्कार लेने वाले दूधनाथ सिंह और ऐसे तमाम लोग कुछ दिनों की आलोचना और शिकायतों के बाद वामपंथी साहित्यकारों की बिरादरी में फिर से स्वीकार्य हो जाते हैं। रायपुर में भाजपा सरकार के साहित्य महोत्सव में हिस्सा लेने वाले पुरुषोत्तम अग्रवाल, नरेश सक्सेना, रमणिका गुप्ता, रणेन्द्र, प्रभात रंजन, बहुतेरे कथित वाममार्गी युवा तुर्कों और जसम-जलेस-प्रलेस से नत्थी छुटभै”यों के साथ भी ऐसा ही होगा। जब ज़्यादातर एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं तो कौन किसपर ऊँगली उठाये! कुछ तो महज इसलिए सदाचार की ताबीज बाँट रहे हैं क्योंकि अभी तक उन्हें कदाचार का कोई आकर्षक, प्रलोभनकारी मौका मिला ही नहीं। जो असन्तुष्ट है वह विद्रोही है। जब वह सन्तुष्ट हो जाता है तो तरह-तरह के तर्कों से सत्ता और पूँजी-प्रतिष्ठानों के कोठों पर महफिलों में जाने के पक्ष में तर्क देने लगता है।

जिन्दगी में गन्द और दन्द-फन्द का सवाल इन कथित वामपंथियों के साहित्य-सृजन में वैचारिकता के अण्ड-बण्ड-भरभण्ड से गहराई के साथ जुड़ा हुआ है। इनके एक बड़े हिस्से को आज अज्ञेय, धर्मवीर भारती, निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद, अशोक वाजपेयी और विनोद कुमार शुक्ल तक में प्रगतिशीलता दीखने लगी है। “वामपंथी” ज्ञान धुरन्धर आलोचक-शिरोमणियों द्वारा संकीर्ण अनुभववादी और प्रकृतवादी दलितवादी लेखन और लम्पट देहमुक्तिवादी कुलीनतावादी नारीवादी लेखन पर अनालोचनात्मक प्रशंसा-पुष्प बरसाते रहने का चलन आम हो चला है। जादुई यथार्थवाद की भोंड़ी प्रहसनात्मक नकलों से कलात्मक चौक-चमत्कार पैदा करने की कोशिशें जारी हैं। वैचारिक स्तर पर अकड़ी गर्दनों वाले अपढ़-कुपढ़ अधकचरे “चिन्तक” आलोचकों द्वारा मार्क्सवाद को उत्तर आधुनिकतावाद, उत्तर-औपनिवेशिकता, उत्तर-मार्क्सवाद, ‘सबआल्टर्न स्टडीज़’, ‘आइडेंटिटी पॉलिटिक्स’ आदि के साथ फेंट-फाटकर विचित्र खिंचड़ी परोसी जा रही है। जीवन और लेखन दोनों में ही प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता की विभाजक रेखायें मिटा-सी दी गयी हैं।

भारतीय बौद्धिक समुदाय की मुख्य धारा के बड़े हिस्से का यह घृणित, निर्लज्ज अवसरवादी विपथगमन और पतन चन्द लोगों के व्यक्तिगत पतन का परिणाम नहीं है। यह एक समकालीन आम प्रवृत्ति है, जिसके कारणों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना होगा और सामाजिक आर्थिक संरचना की गतिकी में तलाशना होगा। बौद्धिक समुदाय की मुख्य धारा उस खुशहाल मध्यवर्ग की ही एक परत है, जो मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था का विशेष सुविधाप्राप्त अल्पसंख्यक उपभोक्ता वर्ग है और जो अब जनता का पक्ष त्यागकर सत्ताधारियों के पक्ष में खड़ा हो चुका है तथा इस व्यवस्था में व्यवस्थित हो चुका है। समाज के मुखर तबके के रूप में कभी यह सत्ताधारियों के

वर्चस्व (हेजेमनी) के विरुद्ध खड़ा होता था, लेकिन अब यह उस वर्चस्व की स्थापना के लिए वैज्ञानिक-सांस्कृतिक भूमिका निभा रहा है। कहा जा सकता है कि साहित्यिक-सांस्कृतिक परिदृश्य की पतनशीलता भारत के खुशहाल मध्यवर्ग के ऐतिहासिक विश्वासघात और पक्ष-परिवर्तन की ही एक अभिव्यक्ति है, उसीका का नतीजा है, या उसी का एक रूप है।

दरअसल, भारतीय बौद्धिक मानस की निर्मिति यूरोप की तरह श्पुनर्जागरण-प्रबोधन- बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति' की प्रक्रिया के दौरान नहीं हुई थी, न ही रूस की तरह विलंबित पूँजीवादी विकास के स्वतंत्र मार्ग पर चलते हुए इसने क्रान्तिकारी जनवाद की वैचारिकी तक की (और साहित्य में बुर्जुआ यथार्थवाद तक की) यात्रा तय की थी। भारत में एक औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के भीतर जो मरियल वैचारिक आधार और खण्डित जनपक्षधरता वाली राष्ट्रीय जनवादी चेतना विकसित हुई, उसमें भी अनैतिहासिक अतीतोन्मुखता और धार्मिक प्रतिच्छायाओं का घटाटोप था और जुझारू भौतिकवादी तर्कणा काफी हद तक अनुपस्थित थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन के बुर्जुआ नेतृत्व का नायकत्व खण्डित होने और उसके गौरव के पराभूत होने में ज्यादा समय नहीं लगा। इसी का नतीजा था कि पचास और साठ के दशक में भारतीय बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों का बड़ा हिस्सा पलायनवाद और अस्तित्वाद से लेकर सर्वनिषेधवाद और अन्धविद्रोह तक की यात्रा करता रहा, या फिर अपने मध्यवर्गीय जीवन के सुखों-दुरूखों-त्रासदियों-विडम्बनाओं और अलगाव की पीड़ा में शतुर्मुर्गी ढंग से गर्दन धँसाये रहा। तेलंगाना संघर्ष की पराजय और वाम आन्दोलन के संशोधनवादी विपथगमन के बाद विचार और साहित्य-कला के क्षेत्र में वाम धारा पृष्ठभूमि में चली गयी। वैसे इस वाम धारा की भी इतिहास-प्रदत्त अपनी कमजोरियाँ और सीमाएँ थीं। 1967 के नक्सलबाड़ी जन-उभार के बाद मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की एक नयी पीढ़ी 'शैडिकलाइज' होकर वाम प्रभाव में आयी। अपनी विचारधारात्मक कमजोरियों और "वाम" दुस्साहसवादी विचलन के चलते नक्सलबाड़ी उभार से पैदा हुई क्रान्तिकारी वाम धारा भले ही जल्दी ही बिखराव-ठहराव का शिकार हो गयी हो, लेकिन विचार और कला-साहित्य की दुनिया में इसने प्रगतिशील जनवादी धारा को नया संवेग प्रदान किया। हालाँकि सत्तर के दशक में यांत्रिक नारेबाजी का घटाटोप अधिक था, लेकिन इस बीच स्तरीय लेखन भी बढ़े पैमाने पर हुआ और वाम जनवादी धारा साहित्य की प्रभावी धारा के रूप में स्थापित हो गयी। लेकिन 1980 का दशक साहित्य-कला के क्षेत्र में भी 'ग्लान्स्नोस्त-पेरेस्त्रोइका' का दौर लेकर आया। दशक के अन्त तक वामपंथी साहित्य में नवरूपवादी प्रवृत्ति ने अपना प्रभाव निर्णायक तौर पर स्थापित कर लिया। 1990 के दशक में जब नवउदारवाद का अश्वमेध का घोड़ा पूरे भूमण्डल को रौंद रहा था तथा मार्क्सवाद की पराजय और समाजवाद की पराजय का शोर दिग्-दिगन्त में गूँज रहा था, तब पुनरुत्थान और विपर्यय के उस दौर में बहुप्रचारित उत्तर-आधुनिक विचार-सरणियों के साथ कथित वामपंथी विचारकों और साहित्यकारों ने भी प्रणय-लीला शुरू कर दी, जो लगातार उन्मत्त रूप लेती चली गयी। तात्पर्य यह है कि जिस समय विचार और सृजन की दुनिया में कथित वामपंथ को उत्तर आधुनिकता की महाठगिनी प्रेम पाश में जकड़ रही थी, उसीसमय जीवन में वह सत्ता संग अवैध सम्बन्धों में भँवर में ज्यादा से ज्यादा उलझता जा रहा था।

दरअसल 1980 के दशक तक, तीसरी दुनिया की अगली कतार के तमाम उत्तर-औपनिवेशिक समाजों की तरह भारतीय समाज में भी पूँजीवादी विकास का राजकीय पूँजीवाद और मिश्रित अर्थव्यवस्था की नीतियों वाला दौर अपने सन्तृप्ति-बिन्दु तक पहुँच चुका

था। इसीकी तार्किक परिणति 1990 के दशक में नवउदारवाद के दौर के रूप में सामने आयी। बुर्जुआ दायरे के भीतर राष्ट्रीय जनवाद के कार्यभारों का जिस रूप में और जिस हद तक पूरा होना सम्भव था, वह क्रमशः होते जाने के साथ मध्य वर्ग का विभेदीकरण होता चला गया और उसका ऊपरी संस्तर बुर्जुआ ढाँचे में व्यवस्थित होता चला गया। पूँजी के सामाजिक आधार के विस्तार के साथ यह हिस्सा समानुपातिक रूप से बढ़ा भी होता चला गया। 1980 के दशक से प्रोफेसर, पत्रकार, डॉक्टर, इंजीनियर, नौकरशाह और वित्तीय क्षेत्र, सेवा क्षेत्र और निजी क्षेत्र से जुड़े पेशेवरों की संख्या और खुशहाली में भारी वृद्धि हुई है, जबकि मजदूरों की ज़िन्दगी की बदहाली ज्यों की त्यों कायम है। अपनी सामाजिक-आर्थिक स्थिति के अनुरूप ही शहरी मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी समुदाय का बहुलांश आज पूँजी के पाले में खड़ा हो चुका है। ऊपर वर्णित राजनीतिक परिदृश्य के आत्मगत प्रभाव के अतिरिक्त इस वस्तुगत यथार्थ के वस्तुगत प्रभाव का ही यह नतीजा है कि आज वामपंथी दायरे में साहित्यिक सर्जना में नवरूपवाद और जीवन के स्तर पर घटिया अवसरवाद का घटाटोप सा छा गया है।

कथित वामपंथी बुद्धिजीवियों-साहित्यकारों का बहुलांश प्रोफेसर, नौकरशाह, मीडियाकर्मी या स्वतंत्र पेशेवर आदि के रूप में खुशहाल मध्यवर्गीय प्राणी बन चुका है जो मेहनतकश जनता के जीवन और संघर्षों से काफी दूर सुरक्षित, सुविधासम्पन्न जीवन बिताता है। अन्दर से सर्वहारा क्रान्ति के भविष्य में न उसकी आस्था है, न ही ऐसी क्रान्ति उसे अपने लिए हितकारी प्रतीत होती है। ऐसे में “वामपंथ” उसके लिए पद-प्रतिष्ठा खरीदने वाला बाजारू सिक्का या तरक्की की सीढ़ी बन चुका है। क्रान्तियों के “महाख्यानों” के प्रति संशय दिखलाते हुए और विखण्डित सामाजिक आन्दोलनों तथा क्षुद्र विमर्शों का “जश्न” मनाते हुए ऐसे लोग वास्तव में अपनी वर्गीय स्थिति को और बुर्जुआ सत्ता के समाजिक अवलम्ब के रूप में अपनी भूमिका को ‘जस्टिफाई’ कर रहे होते हैं और अपनी ज़िन्दगी की बर्बर खुशहाली को भी। “वामपंथ” का लबादा ओढ़कर सत्ता के कोठों पर व्यभिचार करते हुए और गाहे-बगाहे साम्प्रदायिकता, विस्थापन, पुलिस दमन या दलित-उत्पीड़न जैसे प्रश्नों पर अनुष्ठानिक विरोध-प्रदर्शनों, हस्ताक्षर अभियानों में हिस्सा लेते हुए ये बुद्धिजीवी ठगों और गिरहकटों जैसी भूमिका निभाते हैं। साहित्य की राजनीति ये लोग माफिया गिरोहों की तरह करते हैं, कभी-कभी आपस में कुत्तों की तरह लड़ते भी हैं, लेकिन कोई यदि इनकी असलियत सामने लाने की कोशिश करता है तो ये एकजुट होकर आपके विरुद्ध खुले युद्ध, परोक्ष युद्ध या शीतयुद्ध चलाने लगते हैं या शातिराना साजिशों का कुचक्र रचने लगते हैं। बहुतेरे लोग अपनी क्षुद्र यशोकामी आकांक्षाओं-महत्वाकांक्षाओं के चलते अनजाने ही इन गिरोहों के षड्यंत्रकारी दुश्चक्रों का हिस्सा बन जाते हैं और फिर कालान्तर में उन जैसे ही बन जाते हैं। घाटों और श्मशानों के पण्डों-पुजारियों जैसे इन छद्मवेषी “वामपंथी” गिरोहों को ठिकाने लगाने के लिए मेहनतकशों के क्रान्तिकारी आन्दोलन को क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों-संस्कृतिकर्मियों-साहित्यकारों की नयी कतारें तैयार करनी होंगी, सर्वहारा के ‘आर्गेनिक इंटेलेक्चुअल’ ज़्यादा से ज़्यादा संख्या में तैयार करने होंगे।

स्त्री प्रश्न : परम्परा, आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता के सन्दर्भ में एक विमर्श

● कात्यायनी

सबसे पहले परम्परा और आधुनिकता के अन्तर्सम्बन्धों के बारे में मैं कुछ बातें करना चाहूँगी। परम्परा और आधुनिकता को द्वन्द्वात्मक युग्मक के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। आधुनिकता का विपरीत ध्रुव परम्परा नहीं, बल्कि मध्ययुगीनता, प्राक्-आधुनिकता या परम्परा-पूजा होता है।

हर सामाजिक परिघटना में निरन्तरता और परिवर्तन के तत्वों का द्वन्द्व मौजूद रहता है। परम्परा से विच्छिन्न आधुनिकता हो ही नहीं सकती। सिद्धान्त के स्तर पर आधुनिकता एक सार्वभौमिक मूल्य है, लेकिन अलग-अलग संस्कृतियों, देशों, राष्ट्रों, समाजों में उनके इतिहास-विकास की गति और विशिष्टता के हिसाब से सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में आधुनिकता-बोध के रूप और प्रकृति में वैविध्य होता है। पश्चिमी समाजों में आधुनिकता के उद्भव और विकास का जो काल और जो प्रक्रिया रही है, वही काल और वही प्रक्रिया औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में नहीं रही है। इससे भी एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिकी महादेशों और इन महादेशों के अलग-अलग देशों में आधुनिकता के इतिहास की गति और प्रकृति की भिन्नताओं को लक्षित किया जा सकता है।

विश्व इतिहास एक अनवरत जारी यात्रा है जिसमें अलग-अलग युगों में अलग-अलग भूभाग कभी आगे, कभी पीछे होते रहे हैं। विशेष इतिहासिक कारणों से, यूरोप पुनर्जागरण (रिनेसां), प्रबोधन (एज ऑफ एनलाइटनेमेण्ट) और पूँजीवादी

जनवादी क्रान्तियों का रंगमंच बना। पुनर्जागरण-प्रसूत मानववाद और प्रबोधन काल-प्रादुर्भूत भौतिकवादी तर्कणा और जनवाद (स्वतंत्रता-समानता- भ्रातृत्व का त्रिसूत्र) ने मध्यकालीन धर्मकेन्द्रकता (थियोसेण्ट्रिज़्म) और पारलौकिकता के स्थान पर मानव-केन्द्रकता (एन्थ्रोपोसेण्ट्रिज़्म) और इहलौकिकता के विचारधारात्मक वर्चस्व को स्थापित किया। यूरोप में आधुनिकता की घटना का समारम्भ वस्तुतः प्रबोधनकाल से ही हुआ।

स्त्री समुदाय के लिए आधुनिकता की यह क्रान्तिकारी बुर्जुआ परियोजना आरम्भ से ही अन्तरविरोधी और द्विखण्डित थी। एक ओर जहाँ पुनर्जागरण के मानववाद ने सामाजिक व्यवस्था की तमाम दैवी स्वीकृतियों पर प्रश्नचिन्ह उठाकर और इहलौकिकता के मूल्यों-मान्यताओं को स्थापित करके प्रकारान्तर से स्त्रियों की पराधीनता की धार्मिक स्वीकृति के विधानों को भी चुनौती दी, वहीं प्राचीन ग्रीक और रोमन परिवारों के मॉडल और रोमन कानूनों के नमूनों के अनुकरण ने स्त्रियों की घरेलू गुलामी को किसी हद तक बल प्रदान करने का भी काम किया। इसीतरह, प्रबोधनकालीन तर्कणा और जनवाद के राजनीतिक दर्शन ने अमेरिकी और फ्रांसीसी बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों की पूर्वबेला में स्त्रियों में समान नागरिक अधिकारों के लिए संघर्ष की चेतना को जन्म दिया, वहीं प्रबोधनकाल के दौरान ही यह बेतुकी मान्यता भी बहुप्रचलित हुई कि समाज की प्रारंभिक अवस्था से ही स्त्री पुरुष के अधीनस्थ थी। फिर भी इस ऐतिहासिक तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्त्रियों की सामाजिक आज़ादी और स्त्री-पुरुष समानता की माँग की वैचारिक पूर्वपीठिका पुनर्जागरण और प्रबोधन की सैद्धान्तिकी ने ही तैयार की थी।

अमेरिकी क्रान्ति (1776-1883) के दौरान **मर्सी वारेन** और **अबिगेल एडम्स** ने स्त्रियों के मताधिकार और सम्पत्ति के अधिकार सहित सामाजिक समानता की माँग को संविधान में शामिल करने के लिए **वाशिंगटन** और **जैफर्सन** पर दबाव डाला था, पर बुर्जुआ वर्ग के एक बड़े हिस्से के विरोध के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। फ्रांसीसी क्रान्ति की पूर्वबेला में पहली स्त्री पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ और 'क्रान्तिकारी स्त्री क्लबों' के रूप में स्त्रियों के पहले संगठन अस्तित्व में आये।

ओलिम्प द गाउजेस ने 'मनुष्य और नागरिक के अधिकारों की घोषणा' के ऐतिहासिक दस्तावेज़ के मॉडल पर 'स्त्रियों और स्त्री नागरिकों के अधिकार की घोषणा' तैयार की जिसे 1791 में राष्ट्रीय असेम्बली के समक्ष प्रस्तुत भी किया गया। फ्रांसीसी क्रान्ति के अधिकांश नेताओं ने स्त्री-पुरुष समानता के विचारों को खारिज कर दिया, पर साथ ही स्त्रियों की शिक्षा और तलाक लेने में आसानी सहित उन्हें कई नागरिक अधिकार भी इसी दौरान प्राप्त हुए। थर्मिडोरियन प्रतिक्रिया और नेपोलियॉनिक कोड के दौर में, न केवल फ्रांस बल्कि पूरे यूरोप में स्त्रियों के नागरिक अधिकारों को एक बार फिर अतिसीमित कर दिया गया। बुर्जुआ क्रान्तियों के काल में स्त्री आन्दोलन का सबसे महत्वपूर्ण दस्तावेज़ **मेरी वोल्सटन क्राफ्ट** की पुस्तक 'स्त्री अधिकारों का औचित्य प्रतिपादन' थी, जो ओलिम्प द गाउजेस के दस्तावेज़ के प्रतिपादनों को ही उन्नत रूप में प्रस्तुत करती थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में यूरोप में सामन्तवाद के विरुद्ध लम्बे समय में विजय हासिल करते हुए पूँजीपति वर्ग जैसे-जैसे अपनी सत्ता का सुदृढ़ीकरण करता गया, वैसे-वैसे भूदासता की जगह उजरती दासता (वेज-स्लेवरी) लेती चली गयी, सम्पत्ति का अधिकार मूल नागरिक अधिकार बनता चला गया और प्रबोधन की मुक्तिकारी आधुनिकता की परियोजना को विकृत और खण्डित करके बुर्जुआ वर्ग ने चर्च से "पवित्र गठबन्धन" कर लिया। पुरुष वर्चस्ववाद का

रूप मात्र बदल गया। सीमित सामाजिक आज़ादी के साथ घरेलू दासता और सामाजिक उत्पादन में कामगार स्त्रियों की निकृष्टतम कोटि की उजरती गुलामी – बुर्जुआ पारिवारिक-सामाजिक ढाँचे की यही मूल अन्तर्वस्तु थी, जिसकी जीवन्त तस्वीर उन्नीसवीं शताब्दी के कई उपन्यासों में देखने को मिलती है। उन्नत-चेतस स्त्रियों ने महसूस किया कि मताधिकार के बुर्जुआ जनवादी अधिकार को हासिल करना पुरुष वर्चस्व और सामाजिक असमानता के विरुद्ध उनके दीर्घ संघर्ष यात्रा का पहला मील का पत्थर होना चाहिए। समूची उन्नीसवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दशकों तक पश्चिम में स्त्री आन्दोलन का यही केन्द्रिय एजेंडा रहा। जनवादी अधिकार के इस आन्दोलन में मध्यवर्गीय स्त्रियों के साथ मजदूर स्त्रियाँ भी शामिल थीं। 1830 के दशक में अश्वेत लोगों के मुक्ति संघर्ष के दौरान बनी दासता विरोधी स्त्री सोसाइटियों में और ब्रिटेन के चार्टिस्ट आन्दोलन में मेहनतकश स्त्रियों की महत्वपूर्ण भागीदारी थी। 1848-49 की यूरोपीय क्रान्तियों और जून 1848 के पेरिस के प्रथम सर्वहारा विद्रोह में स्त्रियों की प्रभावी भागीदारी के बाद फ्रांस में फिर से स्त्री क्लबों की स्थापना के साथ पहली बार स्त्री मजदूरों के स्वतंत्र संगठन बने। जुलाई, 1848 में न्यूयार्क में **एलिजाबेथ कैण्डी स्टैटन** और **लुकैसिया कफिन मोट** की अगुआई में आयोजित पहले स्त्री अधिकार सम्मेलन ने अपने घोषणापत्र में मताधिकार सहित पूर्ण कानूनी समानता, पूर्ण शैक्षिक और व्यावसायिक अवसर, समान मजदूरी और समान मुआवजे की माँग उठायी। फिर यह आन्दोलन तेजी से आगे बढ़कर यूरोप तक जा पहुँचा।

उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे-पाँचवें दशक में फ्रांस में रचे गये क्रान्तिकारी यथार्थवादी साहित्य में हमें स्त्रियों की पारिवारिक गुलामी और सामाजिक असमानता की तीखी आलोचना देखने को मिलती है। इसमें लेखिका **जी. सांद** के उपन्यास खास तौर पर उल्लेखनीय हैं। इसी विचार-सरणि को आगे बढ़ाते हुए रूसी क्रान्तिकारी जनवादियों में अग्रणी, नारी मुक्ति के सर्वाधिक प्रखर पैरोकार **चेर्नीशेव्स्की** ने '**क्या करें**' उपन्यास में पहली बार अपने समय से काफी आगे का एक ऐसा स्त्री चरित्र प्रस्तुत किया जिसने संकीर्ण पारिवारिक दायरे से मुक्त होकर अपनी स्वतंत्र सामाजिक-आर्थिक स्थिति बनायी थी और जो सामाजिक सक्रियताओं में भी संलग्न थी। काफी हद तक स्त्री-प्रश्न पर चेर्नीशेव्स्की के विचार **सेंट साइमन**, **फूरिये** और **ओवेन** जैसे यूटोपियाई समाजवादी विचारकों के निकट थे जिन्होंने पहली बार स्त्रियों को पूर्ण समानता का दर्जा देने को समाज के पुनर्गठन को अपनी परियोजना का एक बुनियादी मुद्दा बनाया।

मार्क्सवाद ने पहली बार नृतत्वशास्त्र और इतिहास की खोजों के आधार पर स्त्री-पुरुष के बीच असमानता और स्त्री की अधीनस्थता के प्राकृतिक कारणों की धारणा का तर्कसंगत निर्मूलन करते हुए यह सिद्ध किया कि स्त्री की पराधीनता और पुरुष स्वामित्व का जन्म आदिम समाजों में निजी स्वामित्व के जन्म और वर्गों के उद्भव की प्रक्रिया के साथ हुआ जो अलग-अलग सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं में रूप-परिवर्तन के साथ बना रहा। इस प्रस्थापना की एक तार्किक निष्पत्ति यह थी कि स्त्री की पराधीनता की पूर्ण समाप्ति निजी स्वामित्व और वर्ग-विभेद की समाप्ति के साथ ही सम्भव हो सकती है। मार्क्स एंगेल्स और लेनिन के अनुसार, पूँजीवाद ने सस्ती श्रम शक्ति निचोड़ने के लिए स्त्रियों के बड़े हिस्से को घरों से बाहर सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र में धकेलकर वस्तुगत तौर पर एक प्रगतिशील काम किया क्योंकि यह स्त्री मुक्ति की पहली शर्त थी और यह भी आवश्यक था कि समाज की आर्थिक इकाई होने का एकल परिवार का गुण नष्ट कर दिया जाये। लेकिन पूँजीवाद ने घरेलू दासता से अंशतरु ही मुक्त करके स्त्रियों को निकृष्टतम कोटि का उजरती मजदूर तो बनाया। दूसरी ओर सामाजिक-राजनीतिक स्तर पर

उन्हें उन्नत से उन्नत पूँजीवादी जनवाद ने भी वास्तविक समानता नहीं दी। दूसरा पहलू, बुर्जुआ परिवार के स्त्री-उत्पीड़क चरित्र का था। बुर्जुआ परिवारों में गृहिणियाँ ही नहीं, कामकाजू स्त्रियों की भी आंशिक घरेलू दासता घरेलू प्रबन्धन और बच्चों के लालन-पालन के सम्बन्ध में बनी रही। एकनिष्ठ विवाह की सामाजिक मान्यता सभ्यता की एक जीत थी जो पहले ही हासिल की जा चुकी थी। बुर्जुआ समाज में सीमित हद तक स्त्रियों को भी चयन की आज़ादी मिली, लेकिन प्रेम समाप्त हो जाने या बेवफाई की स्थिति में वैवाहिक करार तोड़ने के मामले में स्त्री उतनी स्वतंत्र कभी नहीं रही। कानूनी सुविधा होने पर भी सामाजिक संस्थाएँ और मूल्य उसकी राह में रोड़े थे और बच्चों के पालन की सामाजिक व्यवस्था का अभाव भी एक समस्या था। बुर्जुआ विवाह में सारी एकनिष्ठता वस्तुतः स्त्री के लिए होती है और विवाह को ढोना उसी की विवशता होती है। इन्हीं सन्दर्भों में एंगेल्स ने बुर्जुआ विवाह को एक “संस्थाबद्ध वेश्यावृत्ति” की संज्ञा दी थी। मार्क्स ने सेक्सुअल क्रियाकलाप को “शरीर के सर्वोच्च कार्य” की संज्ञा दी, पर उसे मात्र यौन संसर्ग के रूप में देखने के बजाय उन्होंने व्यक्तिगत यौन प्रेम में दैहिक आकर्षण और तज्जन्य सौन्दर्यात्मक-आत्मिक मनोभावों का सश्लिष्ट अमूर्तन देखा, जहाँ रुचियों और विचारों की एकता के बिना, मात्र साहचर्य से यौनाकर्षण उत्पन्न नहीं होता। इसके बाद मार्क्स ने स्पष्ट किया कि बुर्जुआ समाज में वास्तविक एकनिष्ठ प्यार आम तौर पर इसलिए सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि पण्य-पूजा (कमोडिटी फेटिशिज़्म), और श्रम विभाजन जनित अलगाव (एलियनेशन) मानवीय सेक्सुअल क्रियाकलाप को विरूपित करके, उसे सौन्दर्यात्मिकता, औदात्य और मानवीय सारतत्व से रिक्त करके पाशिवक यौन-तुष्टि मात्र बना डालते हैं। सार्वजनिक जीवन में वस्तुकरण (रीइफिकेशन) और पण्यपूजा की संस्कृति स्त्री श्रम शक्ति को ही नहीं, सदेह स्त्री को ही एक पण्य या माल समझने की पुरुषवर्चस्ववादी संस्कृति को सर्वव्यापी बना देती है। दूसरी बात, वास्तविक प्रेम वास्तव में दो पूर्ण स्वतंत्र नागरिकों के बीच ही सम्भव हो सकता है। बुर्जुआ समाज में स्त्री की दोगम दर्जे की नागरिकता होने के चलते वास्तविक प्रेम की सम्भावना न्यून हो जाती है। इसी आधार पर मार्क्स कहते हैं कि स्त्री को अधीनस्थ बनाकर पुरुष वस्तुतः स्वयं को भी वास्तविक प्रेम न पाने के लिए अभिशप्त बनाता है। जिन्होंने एंगेल्स की ‘परिवार, निजी सम्पत्ति, राज्यसत्ता की उत्पत्ति’ के अतिरिक्त इस प्रश्न पर मार्क्स की ‘हेगेल्स फिलॉसोफी आफ राइट’, ‘होली फैमिली’ और ‘जर्मन आइडियोलॉजी’ से सन्दर्भित अंशों को नहीं पढ़ा है, वे प्रायः फतवा दे देते हैं कि स्त्री प्रश्न पर मार्क्सवाद का नजरिया वर्ग-अपचयनवादी (क्लास-रिडक्शनिस्ट) है और वह स्त्री-उत्पीड़न या जेण्डर-विमर्श के विविध आत्मिक-नैतिक प्रश्नों को नहीं छूता। इस प्रश्न पर विस्तार से मैंने अपनी पुस्तिका ‘प्रेम, परम्परा और विद्रोह’ में चर्चा की है।

मार्क्सवाद जिस समय स्त्री-प्रश्न की नयी सैद्धान्तिकी और नया नीति शास्त्र (एथिक्स) प्रस्तुत कर रहा था, उसी समय बुर्जुआ समाज का वर्ग-विभेदीकरण स्त्री आन्दोलन को दो धाराओं में बाँटने की ज़मीन तैयार कर रहा था। स्त्रियों के जनवादी अधिकार आन्दोलन में से मध्यवर्गीय प्रबुद्ध स्त्रियों की एक धारा ऐसी पैदा हो रही थी जो स्त्रियों की पराधीनता को सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि से विच्छिन्न करके ‘स्त्री बनाम पुरुष’ या मात्र स्त्रियों की पारिवारिक गुलामी के रूप में देख रही थी। इसी धारा के भीतर से बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में ‘यौन स्वच्छन्दता’ और मुक्त प्रेम की अनैतिहासिक-अवैज्ञानिक धारणाएँ पैदा हुईं। कुछ समय के लिए ‘मुक्त प्रेम’ (यानी स्वच्छन्द यौन सम्बन्ध) जैसी धारणाओं का समाजवादी नारी आन्दोलन पर भी प्रभाव पड़ा और अनेसा आरमां और अलेक्सान्द्रा कोल्लोन्ताई भी इसकी पैरोकार

हो गयी थीं, जिसका लेनिन ने तर्कों सहित विरोध किया था। स्त्री अधिकार आन्दोलन के भीतर एक दूसरी धारा स्त्री मजदूर आन्दोलन की फूटी जो समूची स्त्री समुदाय के जनवादी अधिकारों के साथ ही स्त्री-मजदूरों की कम मजदूरी, कार्यस्थल पर उत्पीड़न, प्रजनन अवकाश, बच्चों के लालन-पालन की सुविधा जैसी उन माँगों को भी उठा रही थीं, जिनसे मध्यवर्गीय स्त्रियों का कोई सरोकार नहीं था। ये मजदूर स्त्रियाँ यूनियन गतिविधियों और मजदूर संघर्षों में भी बढ़-चढ़कर हिस्सा ले रही थीं। पेरिस कम्यून और मजदूर दिवस आन्दोलन (शिकागो) में स्त्री मजदूरों की अहम भूमिका एक सर्वज्ञात तथ्य है। 1905-7 और 1917 की रूसी क्रान्ति में भी उनकी व्यापक पैमाने की भागीदारी थी। यँ तो अधिकांश यूरोपीय देशों में स्त्री मजदूर संगठन बने थे, पर ऐसा सबसे बड़ा और शक्तिशाली संगठन जर्मन स्त्री मजदूरों का था।

उन्नीसवीं शताब्दी में मताधिकार सहित जिन जनवादी अधिकारों के लिए पश्चिम में स्त्री समुदाय संघर्ष कर रहा था, उनमें से अधिकांश उसे बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हासिल हो चुके थे। उनकी सामाजिक स्थिति में भी भारी बदलाव आये थे, हालाँकि स्त्री उत्पीड़न और पुरुष स्वामित्ववाद के नये पुराने रूप अभी भी मौजूद थे। पूँजीवादी संकट और पतनशीलता की उपज फासीवाद तीसरे दशक से तेजी से फला-फूला। फासीवाद के धुर नारी-विरोधी विचारों का विरोध तीसरे-चौथे दशक में स्त्री आन्दोलन के एजेण्डे पर प्रमुख कार्यभार था। सोवियत संघ में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में आये परिवर्तनों ने यूरोप के प्रमुख मध्यवर्गीय स्त्रियों की बड़ी आबादी को भी समाजवाद की ओर आकृष्ट किया।

लेकिन बीसवीं शताब्दी के मध्य से, यानी द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद शीतयुद्ध के दौर में, पश्चिम में आधुनिक बुर्जुआ नारीवादी आन्दोलन की धारा का विकास शुरू हुआ। 1946 में फ्रांसीसी में और 1953 में अंग्रेजी भाषा में **सिमोन द बोउवा** की प्रसिद्ध कृति 'द सेकण्ड सेक्स' का प्रकाशन हुआ जिसमें पुरुष-वर्चस्व वाले सामाजिक परिवेश द्वारा स्त्री मानस के अनुकूलन और नारी उत्पीड़न के कई सूक्ष्म पहलुओं को उद्घाटित करते हुए यह प्रस्तावना दी गयी थी कि स्त्रियों की मुक्ति में ही पुरुषों की भी मुक्ति है जो स्वयं पुरुष स्वामित्व की मानवद्रोही मानसिकता के दास हैं। इस सटीक प्रस्थापना के बावजूद, इस पुस्तक में स्त्री-पराधीनता के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, सामाजिक-आर्थिक विश्लेषण, स्त्री-मुक्ति की ठोस परियोजना और स्त्री आन्दोलन के सुस्पष्ट कार्यक्रम का अभाव था। इसके बाद बुर्जुआ नारीवादी आन्दोलन की वैचारिकी क्रमशः ज़्यादा से ज़्यादा सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य से विमुख होती चली गयी। यदि सूत्रवत् कहा जाये तो विभिन्न नारीवादियों ने स्त्री के मुख्य शत्रु के रूप में (1) पुरुष को (2) स्त्री के जैविक प्रजनन कार्य को (3) परिवार को और (4) पितृसत्तात्मक समाज को रेखांकित किया।

बेट्टी फ्रीडन ने अपनी पुस्तक 'द फेमिनिन मिस्टिक' (1963) में स्त्रियों की घरेलू दासता और पुरुष स्वामित्व को स्वीकार करने के लिए उनके मानसिक अनुकूलन की प्रक्रिया की उग्र लेकिन एकांगी और अनैतिहासिक आलोचना प्रस्तुत की। 'सोसाइटी फॉर कटिंग अप मैन', 'वाटफोर्ड विमेन्स लिबेरेशन वर्कशॉप' और 'नाटिंघम विमेन्स लिबेरेशन ग्रुप' जैसे मंचों ने धनी और गरीब – सभी स्त्रियों को समान रूप से उत्पीड़न का शिकार बताते हुए पुरुषों को अपना शत्रु बताया। इसके जो समाधान उन्होंने सुझाये उनका दायरा हवाई अतिवाद से लेकर निम्न बुर्जुआ सुधारवाद तक फैला हुआ था। एक समाधान बताया गया कि पुरुषों को औकात में लाने के लिए सत्ता केन्द्रों पर शक्तिशाली स्त्री नेत्रियों को काबिज़ होना चाहिए। दूसरा समाधान – स्त्रियों की एक विश्व सरकार बनानी होगी। तीसरा समाधान – महिलाओं की

बैंकिंग, स्टॉक एक्सचेंज में ज़्यादा से ज़्यादा भागीदारी, टैक्स कानूनों व अन्य कानूनों में सुधार। जाहिर है इन आधारों पर बुर्जुआ फैशनपरस्ती और सुधारवाद से आगे कोई आन्दोलन खड़ा ही नहीं हो सकता था।

1971 में जर्मन ग्रीयर की प्रसिद्ध पुस्तक 'द फीमेल यूनक' प्रकाशित हुई और 1978 में ईवा फिग्स की पुस्तक 'पैट्रियॉकल एटिट्यूड्स' प्रकाशित हुई। ग्रीयर और फिग्स ने (तर्क-प्रणाली की कतिपय भिन्नताओं के साथ) मूलतः विवाह संस्था और पितृसत्तात्मक परिवार को ही स्त्री-उत्पीड़न का मूल कारण बताया और इनके उन्मूलन के मूल रूप में एक निहायत यूटोपियाई समाधान प्रस्तुत किया। दोनों ही लेखिकाओं ने सामाजिक उत्पादन-प्रक्रिया के विकास के साथ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों और परिवार के विकास और स्वरूप-परिवर्तन के नृतत्वशास्त्रीय और ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना करते हुए इन्हें अपरिवर्तनशील प्रकृति का बताया, वर्गीय शोषण के साथ स्त्री उत्पीड़न का कोई सम्बन्ध नहीं देखा। जर्मन ग्रीयर ने राजनीतिक अधिरचना और परिवार की सामाजिक-आर्थिक इकाई के बीच सम्बन्धों को सिर के बल खड़ा करते हुए यह स्थापना दी कि यदि पितृसत्तात्मक परिवार का उन्मूलन कर दिया जाये तो इससे राज्यसत्ता की एक उपसंरचना का भी अतिक्रमण हो जायेगा। नारीवादियों के ब्रिस्टल समूह और एलेन एडम्स जैसी नारीवादी लेखिकाओं के विचार भी कुछ ऐसे ही थे।

अपनी पहली ही पुस्तक 'डायलेक्टिक्स ऑफ सेक्स' (1972) से चर्चित नारीवादी लेखिका शुलास्मिथ फायरस्टोन के तर्क तो और अधिक अनैतिहासिक हैं। वे स्त्री उत्पीड़न का मूल कारण स्त्री-पुरुष के बीच की जैविकीय भिन्नता और स्त्री के प्रजनन कार्य को मानती हैं। उनका मानना है कि गर्भाधान और बच्चे के पालन-पोषण की नीरस विवशता स्त्री-दासता को जन्म देती है। बेशक, बच्चे के पालन-पोषण और घरेलू कामों का निकृष्ट-नीरस बोझ स्त्री को कुचल देता है, पर यह स्त्री की नारकीय परवशता का एक रूप है, मूल कारण नहीं। मूल कारण निजी स्वामित्व वाली वर्गीय संरचना में एकल परिवार का ढाँचा है। मार्क्सवादी साहित्य में इसकी काफी चर्चा है और यह बताया गया है कि इसका अन्तिम समाधान तभी हो सकता है जब उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के समाजीकरण के बाद बड़े पैमाने पर सार्वजनिक भोजनालय, शिशुशालाएँ और पालनाघर आदि स्थापित हों और तुच्छ घरेलू कामों की ज़िम्मेदारी से मुक्त स्त्री समुदाय सार्वजनिक उत्पादन के क्षेत्र में प्रवेश करे। लेकिन शुलास्मिथ और उन जैसी नारीवादी इस निष्कर्ष पर पहुँची कि (1) स्त्रियों को यथासम्भव प्रजनन के आतंक से मुक्त होना होगा, (2) सभी स्त्रियों को यौन स्वतंत्रता होनी चाहिए, (3) गर्भपात और गर्भनिरोध की पूरी आज़ादी होनी चाहिए। बेशक गर्भपात और गर्भनिरोध की आज़ादी एक जनवादी अधिकार है, पर यह स्त्री उत्पीड़न का समाधान कदापि नहीं। आज यह अधिकार जिन देशों में मिल चुका है, वहाँ भी स्त्रियाँ उत्पीड़ित ही हैं। दूसरी बात, खाते-पीते घरों की जो स्त्रियाँ बाहर काम करती हैं और आया-गवर्नेस आदि रखकर बच्चे के लालन-पालन के बोझ से मुक्त हैं, ऐसा नहीं कि परिवार और समाज के भीतर उनकी दायम दर्जे की नागरिकता की स्थिति समाप्त हो गयी हो। रही बात, यौन-स्वतंत्रता की, तो यह एक मानवीय प्रेम की उदात्त आत्मिक अवधारणा के विपरीत धारणा है, इस मार्क्सवादी सोच की हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। जीवन-साथी के चयन और सम्बन्ध विच्छेद की स्वतंत्रता एक बात है और स्वच्छन्द यौन-सम्बन्ध, प्रेम के बिना यौन सम्बन्ध या एक ही समय में एकाधिक लोगों से प्रेम सम्बन्ध एक बुर्जुआ

मानसिक विकृति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकती। सुसंस्कृत मनुष्य का आदर्श केवल एकनिष्ठ प्रेम ही हो सकता है।

सत्तर के दशक में जिस नारीवादी विचारक की सबसे अधिक चर्चा रही वह **केट मिलेट** थीं, जिनकी पहली पुस्तक 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' 1970 में प्रकाशित हुई, पर अमेरिकी नारीवादी आन्दोलन में वह '60 के दशक से ही सक्रिय थीं। केट मिलेट यौनिकता और इतरलैंगिकता (हेटेरोसेक्सुअलिटी) का विस्तृत विश्लेषण 1830 के दशक के सीमित ऐतिहासिक काल की साहित्यिक कृतियों (मुख्यतः **डी.एच.लारेस**, **हेनरी मिलर** और **नॉर्मन मेल्जर**) के आधार पर करती हैं जो अपने आप में दिलचस्प हैं। पर **मॉर्गन** और **एंगेल्स** की स्थापनाओं पर बिना कोई तर्क किये वह यह स्थापना देती है कि आदिम काल में पितृसत्ता से पूर्व की कोई अवस्था नहीं थी (यानी पितृसत्ता शुरू से ही मौजूद रही है)। पितृसत्ता के जैविक आधार को तो वह खारिज करती हैं, लेकिन उत्पादन प्रक्रिया, निजी सम्पत्ति और वर्गों के ऐतिहासिक विकास से भी इसके रिश्ते को वह स्वीकार नहीं करतीं। इसे वह समाजीकरण की प्रक्रिया की देन मानती हैं जो केवल 'आस्था' पर आधारित सोच को इस प्रकार प्रस्तुत करती है मानो वह सोच पूर्णतः एक मूल्य व्यवस्था पर आधारित हो। इस तरह केट मिलेट के पूरे फ्रेमवर्क में पितृसत्ता के सामाजिक-आर्थिक संरचना के साथ अन्तर्सम्बन्ध और राज्यसत्ता के साथ उसके सम्बन्ध का कोई स्थान नहीं है। अन्ततोगत्वा उनके निशाने पर पितृसत्तात्मक परिवारों की इकाइयों से संघटित समाज ही आता है। व्यवहारिक स्तर पर स्त्रियों द्वारा पुरुष स्वामित्व का प्रतिरोध करने से आगे स्त्री मुक्ति की कोई भी ठोस परियोजना वह प्रस्तुत नहीं करतीं।

1960 और '70 के दशक में नारीवादी आन्दोलन का जो उभार आया था, उसमें ये सभी विचार-सरणियाँ घुली-मिली थीं। इनमें जनवादी अधिकार की माँगों से लेकर यौन स्वच्छन्दतावादी अन्धविद्रोह की अभिव्यक्तियाँ तक शामिल थीं। इनका मुख्य जोर बहनापा (सिस्टरहुड), किसी प्रकार के संगठन या राजनीतिक विचारधारा के विरोध और स्वयंस्फूर्तता पर था। इनकी जनवादी अधिकारों की माँगों का दायरा भी निम्न बुर्जुआ दायरे तक सीमित था। वस्तुगत तौर पर यदि इनका कोई सीमित सकारात्मक प्रभाव पड़ा तो इतना कि स्त्रियों को प्राप्त जनवादी अधिकारों का दायरा थोड़ा विस्तारित हो गया और जड़ीभूत धार्मिक-सामाजिक रूढ़ियों की जकड़बन्दी थोड़ी और ढीली हो गयी।

वैज्ञानिक समाजवाद की विचारधारा से प्रभावित स्त्री आन्दोलन पर सोवियत संघ में 1956 में खुश्चोव के नेतृत्व में शुरू हुई पूँजीवादी पुनर्स्थापना का गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। समाजवादी मुखौटे वाली राजकीय एकाधिकारी पूँजीवादी सत्ता के अन्तर्गत सामाजिक-सांस्कृतिक विपर्यय की एक लहर चली। घरेलू काम, मातृत्व आदि का महिमामण्डन करते हुए स्त्रियों को फिर चारदीवारी के पीछे धकेला जाने लगा। सार्वजनिक उत्पादन में भी उनकी स्थिति दोगम दर्जे की होने लगी। स्त्री विरोधी अपराध और वेश्यावृत्ति फिर से अस्तित्व में आ गये। इस खुश्चेवी लहर का विश्वव्यापी प्रभाव भी पड़ा। जुझारू स्त्री संगठन मध्यवर्गीय सुधारवादी फैशनपरस्त क्लब बनने लगे। स्त्री मजदूर संगठनों में भी एक किस्म की ट्रेड यूनियन नौकरशाही पैदा होने लगी। चीन में आयी "बाज़ार समाजवाद" की पूँजीवादी लहर और 1980 के दशक में गोर्बाचोव काल से लेकर सोवियत संघ के विघटन तक के दौर में वित्तीय पूँजी के भूमण्डलीय अश्वमेघ का घोड़ा जब निर्बन्ध पूरी पृथ्वी पर दौड़ने लगा तो विश्व पूँजी के थिंक टैंकों ने संस्कृति के अन्य क्षेत्रों की तरह स्त्री आन्दोलन की एक नयी वैचारिकी तैयार की और एन.जी.ओ और कथित 'नये

सामाजिक आन्दोलनों' (न्यू सोशल मूवमेण्ट्स') के साम्राज्यवादी वित्तपोषित संजाल द्वारा उसे पूरी दुनिया में सुधारवादी स्त्री आन्दोलन की नयी लहर के रूप में फैलाया।

इस उत्तर नारीवाद की मूल सैद्धान्तिकी अस्मिता-राजनीति (आइडेण्टिटी पॉलिटिक्स) थी, जो वस्तुतः उत्तर आधुनिकतावादी प्रस्थापनाओं पर आधारित थी। इसलिए उत्तर आधुनिकतावाद की इतिहास-दर्शन कुछ बुनियादी प्रस्थापनाओं के उल्लेख के बिना इसकी चर्चा नहीं की जा सकती। उत्तर आधुनिकतावादी इतिहास-दृष्टि के अनुसार, आज के युग में प्रबोधनकालीन आदर्शों का वर्चस्वकारी मिथक खण्डित हो चुका है और क्रान्तियों (बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति, सर्वहारा क्रान्ति, राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति – सभी) के महाख्यानों (मेटा-नैरेटिव्स) का विसर्जन हो चुका है। इसके अनुसार, किसी भी प्रकार का सार्विकीकरण (यूनिवर्सलाइज़ेशन), सामान्यीकरण (स्टैंडर्डाइज़ेशन) या प्रतिमानपरकता (नॉर्मेटिवनेस) दमनकारी होता है। प्रबोधन वास्तव में एक षड़यंत्र था। आधुनिकता, तर्कणा, जनवाद आदि इसकी विशेषताएँ वस्तुतः इसी षड़यंत्र का हिस्सा है जिनके नाम पर पश्चिम ने प्राच्य विश्व को अपना गुलाम बनाया। जाहिरा तौर पर उत्तर आधुनिकतावाद प्रबोधनकालीन आधुनिकता की परियोजना के विस्तार के तौर पर समान आरोपों के साथ समाजवाद को भी खारिज करता है। यह पूरा तर्क समाज विकास के नियमसंगति और आर्थिक पहलू को पूरी तरह खारिज करता है। पूँजीवाद के सभी दुष्कर्मों के लिए यह प्रबोधन के महान आदर्शों को ही दोषी ठहरा देता है और प्रथम चक्र के समाजवादी प्रयोगों के पतन-विघटन की भी सामाजिक-आर्थिक पड़ताल किये बिना ही, इस आधार पर मार्क्सवादी विचारधारा को ही विफल घोषित कर देता है। इन सभी विचारों को एक साथ पश्चिमी औपनिवेशिक विमर्श की श्रेणी में रखते हुए उनके बरक्स उत्तर आधुनिकतावाद श्प्राच्य मासूमियतश्, देशी पारम्परिक सामुदायिक, भाषाई, सांस्कृतिक अस्मिताओं और परम्पराओं को महिमामण्डित करता है। यानी एक तरफ तो यह हर तरह के सारभूतीकरण (एस्सेंशियलाइज़ेशन) का विरोध करता है, लेकिन आधुनिकता की परियोजना का विरोध करते हुए स्वयं तमाम प्राक्-आधुनिक पहचानों का सकारात्मक निरपेक्षीकरण (पॉज़िटिव एब्सोल्यूटाइज़ेशन) करता है। यानी जो आधुनिक है, वह बुरा है, जो प्राक्-आधुनिक है, वह अच्छा है। ल्योतार से शुरू हुए इस चिन्तन को फिर फूको, देरिदा आदि ने आगे बढ़ाया और एक दूसरे से जुड़ी कई उत्तर-विचार-सरणियाँ अस्तित्व में आयीं। उत्तर आधुनिकतावाद के अगले पुरोध मिशेल फूको ने यह स्थापना दी कि सत्ता (पावर) पोर-पोर में समायी होती है, दैनन्दिन जीवन में सर्वव्याप्त होती है, विकेन्द्रित होती है और लोगों द्वारा आभ्यन्तरीकृत (इण्टर्नलाइज़) कर ली जाती है। अतः यह अप्रतिरोध्य है। लोग यदि सामाजिक रूपान्तरण के लिए कोई सामूहिक प्रतिरोध करते भी हैं, तो उससे सिर्फ 'सत्ता का नया रूप' पैदा होता है, जो स्वयं दमनकारी होता है। अतः सत्ता का कोई भी संगठित सामूहिक प्रतिरोध व्यर्थ है। आगे फूको बताते हैं कि सत्ता और दमन के मूल में भी सार्विकीकरण, मानकीकरण, सामान्यीकरण की अवधारणा होती है, अतः आप सिर्फ यह कर सकते हैं कि व्यक्तिगत जीवन में हर प्रकार के 'नॉर्म' और 'शूनिवर्सल' का खण्डन करते हुए सत्ता और दमन का प्रतिरोध करें, निजी जीवन में जाति, जेण्डर, धर्म आदि से जुड़ी अस्मिता से सम्बन्धित हर 'नॉर्म' का विरोध करें। इस चिन्तन को नयी उँचाई तक उत्तर मार्क्सवादी विचारक अर्नेस्टो लाक्लाऊ और शैटेल माऊफ़ ने यह स्थापना देते हुए पहुँचाया कि हर प्रकार का दमन आत्मगत होता है, इसका ठोस वस्तुगत यथार्थ से कोई

लेना-देना नहीं होता। नतीजा वही, कि सत्ता-संरचनाएँ अप्रतिरोध्य हैं।

अब देखिये, इस पूरी विचार-सरणि से उत्तर-नारीवाद की कई, उपधाराएँ और अस्मितावादी स्त्री आन्दोलन की विचार-पीठिका किस प्रकार फूटकर निकलती हैं। चूँकि क्रान्तियों के 'महाआख्यान अविश्वसनीय हैं', वे विसर्जित हो चुके हैं और चूँकि दमनकारी सत्ता के एकजुट, संगठित प्रतिरोधों ने दमनकारी सत्ताओं को ही जन्म दिया, इसलिए अब छोटे-छोटे विखण्डित, परिधिगत, अस्मिता आधारित संघर्षों का समय है। जैसे स्त्रियों का संघर्ष, दलितों का संघर्ष, आदिवासियों का संघर्ष, मूल निवासियों का संघर्ष आदि। विकल्प एक है और वह यह कि इसी व्यवस्था के भीतर इन परिधिगत अस्मिताओं के लिए स्वायत्त स्पेस बनाना है। इसी आधार पर ये तमाम तथाकथित 'न्यू सोशल मूवमेण्ट्स' चल रहे हैं, जिनके कर्ता-धर्ता लाखों साम्राज्यवादी वित्तपोषित एन.जी.ओ. हैं। 'वर्ल्ड सोशल फोरम' इन्हीं कथित 'नये सामाजिक आन्दोलनों' का एक वैश्विक मंच है। इनका मूल उद्देश्य वर्ग संघर्ष की चेतना को कुन्द करना, राज्यसत्ता के प्रश्न को दृष्टिओझल करना और संगठित जन प्रतिरोध की सम्भावनाओं को विसर्जित करके इसी व्यवस्था के दायरे में सुधारवाद की चौहदियों में कैद कर देना है।

उत्तर नारीवाद की दूसरी उपधारा फूको की इस स्थापना से निकलती है कि हमें निजी जीवन में हर प्रकार के जेण्डरगत, जातिगत, धार्मिक आदि अस्मिताओं से सम्बन्धित मानक ('नॉर्म') और सार्वभौम ('यूनिवर्सल') के विरुद्ध विद्रोह करना है क्योंकि लोगों द्वारा आभ्यन्तरीकृत, पोर-पोर में समायी सत्ता का इसी प्रकार विरोध किया जा सकता है। इसे उसने 'क्वियर थियरी' का नाम दिया। स्त्री प्रश्न के सन्दर्भ में इसे मुख्यतः जुडिथ बटलर ने और उनके अतिरिक्त ग्लारिया अंजाल्दुआ, ईव कोसोफस्की, सेडविक इस्तेबान मुनोज, जोस तथा लॉरेन बर्लान्त आदि ने लागू करते हुए यह स्थापना दी कि जेण्डर किसी व्यक्तित्व का सारभूत स्व ('एस्सेंशियल सेल्फ') है और सेक्स (यानी सेक्सुअल क्रियाएँ और अस्मिताएँ) सामाजिक निर्मित ('कंस्ट्रक्ट') है। समाज में कुछ सेक्सुअल व्यवहारों को मानक और कुछ को विचलनशील ('डेविएंट') मानने की धारणा ही दमनकारी और वर्चस्ववादी है। अतः इस सन्दर्भ में भी हमें 'मानक' और 'सार्वभौम' का विरोध करना चाहिए। इसी आधार पर तमाम एन.जी.ओ. वैकल्पिक जेण्डर अस्मिता को लेकर काम कर रहे हैं और एल.जी.बी.टी. (लेस्बियन-गे-बाईसेक्सुअल-ट्रांसजेण्डर) समुदाय का आन्दोलन खड़ा कर रहे हैं। भारत में भी यह समुदाय बढ़ रहा है और जुडिथ बटलर को लेखिका अर्चना वर्मा के रूप में एक प्रचण्ड समर्थक भी मिल गया है। हमें आशा है कि जल्दी ही इस तर्क के आधार पर पशुओं से यौन सम्बन्ध को स्वाभाविक मानने के हिमायती भी पैदा हो जायेंगे और साक्ष्य दिया जायेगा कि समलैंगिकता की तरह यह चीज भी समाज में आदिकाल से मौजूद रही है। आजकल तो बहुत सारे मार्क्सवादी भी एल.जी.बी.टी. समर्थक हो गये हैं। एल.जी.बी.टी. लोगों के राज्य और समाज द्वारा उत्पीड़न के तो हम विरोधी हैं, पर उनके सेक्सुअल व्यवहार को वैज्ञानिक कत्तई नहीं मानते। यह एक अलग से विस्तृत चर्चा का विषय है कि सेक्सुअल व्यवहार के सामाजिक प्रतिमान समाज-विकास के साथ-साथ कैसे विकसित हुए और क्यों स्त्री-पुरुष के बीच एकनिष्ठ प्यार आधारित यौन-सम्बन्ध ही स्वस्थ सामाजिक मानस की निशानी है। मानक व्यवहार के साथ विचलनशील सेक्सुअल व्यवहार मानव समाज में हमेशा से रहे हैं और विशेष तौर पर युग विशेष के पतनशील दौरों में उसकी बहुलता देखने को मिलती रही है, पर यह शायद पहली बार हुआ है कि पतनशील पूँजीवाद ने इसका इतना सांगोपांग सैद्धान्तिकरण किया है। जुडिथ बटलर जैविक पुनरुत्पादन से शुरू हुए स्त्री-पुरुष यौन-सम्बन्ध में यौन भावना के प्रेम में अमूर्तन और

प्रेम के मनोगत भाव के अमूर्तन और ऐतिहासिक विकास की पूरी तरह अनदेखी करती हैं, और प्रेम की पूरी परिघटना को ही यौन-क्षुधा पूर्ति में अपचयित करके मनुष्य को फिर उसकी आदिम अवस्था में पहुँचा देती है— यानी उसे अपने युग के हिसाब से भी 'डेवियेंट' (विचलनग्रस्त) सेक्सुअल व्यवहार करने वाला असामाजिक आदिमानव बना देती है।

उत्तर नारीवाद की जो तीसरी उपधारा फूटती है, वह और भी खतरनाक है। चूँकि आधुनिकता की हर सोच पश्चिमी वर्चस्ववादी परियोजना का अंग है, इसलिए स्त्रियों को भी जाहिरा तौर पर प्राक्-आधुनिक अस्मिताओं तक, संस्थाओं और मूल्यों तक जाना होगा, अनछुई 'प्राच्य मासूमियत' (खाप पंचायतें, दलित उत्पीड़न, स्त्री उत्पीड़न, स्त्री-विरोधी रूढ़ियाँ — ये सब कितनी "मासूम चीजें" हैं!) को अपना शरण्य बनाना होगा। इसके पुरजोर तर्क **गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाँक** से लेकर 'सबआल्टर्न' धारा के इतिहासकार **पार्थ चटर्जी** और **दीपेश चक्रवर्ती** भी देते हैं। पार्थ चटर्जी एक विचित्र नया युग पेश करते हैं — 'भौतिक' बनाम 'आत्मिक'। जो बाहरी, 'अघरेलू' और पौरुषपूर्ण है, वह 'भौतिक' है। जो आन्तरिक, घरेलू और स्त्रीण है, वह 'आत्मिक' है। 'भौतिक' को उपनिवेशवाद या साम्राज्यवाद द्वारा सहयोजित कर लिया जाना सम्भव है, पर 'आत्मिक' 'सब्जेक्ट' अपनी स्वायत्तता कायम रखता है। इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए दीपेश चक्रवर्ती 'कुल' और 'गृहलक्ष्मी' के घरेलू महिमा-मण्डन में "सुन्दरता" की 'इरिड्यूसिबल' (अनअपचनीय) श्रेणियाँ तलाशते हैं और इन्हें स्वायत्त, गैरबुर्जुआ वैयक्तिकता के आदर्श के रूप में देखते हैं। इस अनैतिहासिक, मिथ्याभासी तर्कलीला का कुल निष्कर्ष यह निकलता है कि मध्ययुगीन सामन्ती पारिवारिक संस्था और मूल्यों को शरण्य बनाकर स्त्री आधुनिकता द्वारा आरोपित सत्ता के वर्चस्व और पुरुष वर्चस्व का सामना करते हुए अपना स्वायत्त स्पेस बना और बचा सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह विचार कितनी भयानकता के साथ धुर दक्षिणपंथी धार्मिक कट्टरपंथी फासीवादी राजनीति के पक्ष में जाकर खड़ा होता है।

दरअसल उत्तर आधुनिकतावाद और उसकी तमाम अन्य सहोदरा विचार-सरणियों की तरह उत्तर-नारीवाद भी उत्तर आधुनिक नहीं है बल्कि प्राक्-आधुनिक की ओर एक प्रतिक्रियावादी वैचारिक पश्चगमन है। आधुनिकता की परियोजना का अर्थ है — जीवन पर तर्कणा और विज्ञान का प्राधिकार, हर नागरिक की व्यक्तिगत आज़ादी और जनवाद। बुर्जुआ वर्ग ने पश्चिम में इन प्रबोधनकालीन आदर्शों को सत्तासीन होते ही छोड़ दिया और इनका खण्डित, विकृत-विरूपित और काफी हद तक मिथ्याभासी रूप ही अस्तित्व में आया। वैज्ञानिक समाजवाद ने इन्ही प्रबोधनकालीन आदर्शों के धूल में फेंक दिये गये झण्डे को फिर से उठाया। उसने इन आदर्शों को नया ऐतिहासिक-वैज्ञानिक आधार दिया और उन्हें साकार करने की इतिहास-यात्रा की एक पथरेखा निर्दिष्ट की। वह एक लम्बी यात्रा थी, जिसका प्रथम चक्र ही अभी पूरा हुआ है। फिलहाल गतिरोध और विपर्यय का एक संक्रमण काल है। अभी अतीत के अनुभवों के आधार पर आगे की यात्रा के मानचित्र को ठीक से तैयार करना है। आधुनिकता की ऐतिहासिक परियोजना का बुर्जुआ जनवादी चरण तो बहुत छोटा था। वास्तव में समाजवाद ही इस परियोजना को साकार कर सकता है, वह भी एक लम्बी संक्रमण अवधि से गुजरकर। इतिहास का आधुनिक काल ही अभी जारी है और लम्बे समय तक जारी रहेगा। उत्तर आधुनिकता वास्तव में प्राक्आधुनिकता की तरफ पश्चगमन की सैद्धान्तिकी है। यह असाध्य ढाँचागत संकट से ग्रस्त, चरम मानवद्रोही विश्व पूँजीवाद की वैचारिकी है। इससे प्रभावित आज का स्त्री आन्दोलन और उत्तर-नारीवादी विचार स्त्रियों के मुक्ति-स्वप्नों के अपहरण का एक षडयंत्र है, उन्हें एक वैचारिक छलावे का शिकार बनाने का प्रपंच है और अपनी नये किस्म की गुलामी को स्वीकारने

के लिए उनके मानसिक अनुकूलन का एक उपकरण है। स्त्री आन्दोलन को आज एक नये क्रान्तिकारी पुनर्जागरण के लिए प्रबोधन काल और फ्रांसीसी क्रान्ति के दौर के स्त्री-मुक्ति विषयक विचारों और प्रयासों तथा उन्नीसवीं शताब्दी के स्त्रियों के जनवादी अधिकार संघर्षों की परम्परा का पुनर्संधान करना होगा, उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी की समाजवादी धारा के स्त्री आन्दोलन और स्त्री मजदूरों के संघर्षों से अपनी परियोजना को जोड़ने वाले योजक-सूत्र ढूँढ़ने होंगे तथा तथा स्त्री-पराधीनता के ऐतिहासिक अध्ययन से इस तथ्य को भली-भाँति समझना होगा कि सामाजिक मुक्ति संघर्ष की सफलता की नियति अविभाज्यतः जुड़ी हुई है।

लेकिन परम्परा और आधुनिकता-बोध पर स्त्री-प्रश्न-सन्दर्भ में हमारा विमर्श तबतक अधूरा रहेगा, जबतक हम अपने देश के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और सांस्कृतिक सामाजिक पारिस्थितिक सन्दर्भों में इसकी चर्चा न करें। सैद्धांतिकी ऐतिहासिक सन्दर्भ में सार्वभौमिक होती है पर हर देश का अपना देशज सन्दर्भ आन्दोलनों को विशिष्ट साँचे और रंग-रूप में ढालता है और मूल विचार के कुछ उपप्रमेय भी विकसित करता है। भारत जैसे उपनिवेशों में बुर्जुआ विकास का स्वरूप यूरोप जैसा नहीं रहा। यहाँ अपनी स्वतंत्र नैसर्गिक आन्तरिक गति से मध्ययुगीन सामाजिक-आर्थिक संरचना की कोख से पूँजीवाद जन्म लेता (उसका भ्रूण विकसित हो रहा था) और पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति जैसी कोई प्रक्रिया गति पकड़ती, इसके पहले ही औपनिवेशीकरण हो गया। देशी सामाजिक-आर्थिक संरचना को नष्ट करके एक औपनिवेशिक आर्थिक-सामाजिक संरचना आरोपित कर दी गयी। इस संरचना में एक मरियल, विकलांग, समझौतापरस्त पूँजीवाद पैदा हुआ जिसने क्रान्तिकारी संघर्ष के बजाय समझौता-दबाव-समझौता की नीति अपनायी, बार-बार जनाकांक्षाओं के साथ विश्वासघात किया और अनुकूल विश्व परिस्थितियों में उपनिवेशवादियों से सौदा करके राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल की। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी इसने साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद नहीं किया। यहाँ के बुर्जुआ वर्ग और निम्न बुर्जुआ वर्ग के एक हिस्से का राष्ट्रवाद रुग्ण-विकलांग था और जनवादी मूल्य अत्यन्त कमजोर थे। जो निम्न बुर्जुआ वर्ग का क्रान्तिकारी आन्दोलन था, वह भी 1920 के दशक तक पुनरुत्थानवादी अतीतोन्मुखता से ग्रस्त था। कम्युनिस्ट आन्दोलन शुरू से ही विचारधारात्मक दुर्बलता का शिकार था और मेहनतकशों के शौर्यपूर्ण संघर्षों के बावजूद कम्युनिस्ट नेतृत्व कभी भी राष्ट्रीय आन्दोलन के बुर्जुआ नेतृत्व को चुनौती देने की स्थिति में नहीं आ सका। राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा में जुझारू जनवादी मूल्यों के बजाय मध्ययुगीनता के साथ समझौते की प्रवृत्ति आद्यन्त बनी रही। भारतीय स्त्री आन्दोलन के उद्भव एवं विकास की प्रक्रिया और उसका चरित्र इतिहास विकास की इसी विशिष्टता से काफी हद तक निर्धारित हुआ।

भारत में **सावित्री बाई फुले** सम्भवतः पहली महिला थीं जिन्होंने जाति प्रथा के साथ ही स्त्री पराधीनता के विरुद्ध भी आवाज उठाई। शिक्षा सहित सुधार के अन्य क्षेत्रों में उनकी पहल गरीब तबकों की स्त्रियों पर केन्द्रित थी। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशकों में **पण्डिता रमाबाई**, **रमाबाई रानाडे**, **आनन्दी बाई जोशी**, **फ्रानना सारोबजी**, **रुक्मा बाई**, **स्वर्ण कुमारी** आदि उच्च मध्यवर्गीय स्त्रियों ने स्त्री अधिकारों के पक्ष में और रूढ़ियों के विरोध में जो आवाज उठाई, उसका प्रभाव विस्तार पूरे देश में समाज के आम मध्यवर्गीय संस्तरों तक धीरे-धीरे हुआ। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में बंगाल की लेखिका **रुकैया सखावत हुसैन** ने अपनी कहानी 'सुलताना का सपना' (अंग्रेजी में, 1905) में रूढ़ियों में कैद भारतीय नारी, वह भी मुस्लिम समाज की नारी की मुक्ति की सपना देखने का साहस किया था। यही समय था, जब हिन्दी में **बंग महिला** पुराणपंथी साहित्य-पण्डितों और दिग्गज सम्पादकों की असहमतियों और कोप

का सामना करते हुए स्त्रियों पर लादे जाने वाले नैतिक बन्धनों, विधवाओं की स्थिति, पुरुष-प्रधान पारिवारिक-सामाजिक ढाँचे में स्त्रियों की गुलामी और स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी वर्जनाओं पर प्रश्न उठा रही थीं। यहाँ यह उल्लेख जरूरी है कि आर्यसमाज से नास्तिकता से होते हुए मार्क्सवाद तक की यात्रा करने वाले **राधामोहन गोकुल** ने अन्य रूढ़ियों के साथ ही स्त्री पराधीनता के विविध पक्षों पर 1880 के दशक से लेकर 1920 के दशक तक पत्र-पत्रिकाओं में जो उग्र लेख लिखे, उन्होंने पढ़ी-लिखी स्त्रियों की कई पीढ़ियों को प्रभावित किया। उन्हीं की परम्परा में आगे **सत्यभक्त**, **राहुल**, **रमाशंकर अवस्थी** आदि का भी नाम आता है। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान स्त्री स्वातंत्र्य-चेतना की एक नयी लहर पूरे देश में आयी, जो 1940 के दशक तक विशेष तौर पर भारतीय भाषाओं में छपने वाली पत्र-पत्रिकाओं में लगातार दीखती रही। **‘अभ्युदय’**, **‘सुधा’**, **‘माधुरी’**, **‘हंस’**, **‘चाँद’**, **‘जागरण’**, **‘स्वदेश’** आदि दर्जनों पत्र-पत्रिकाओं में स्त्रियों की पारिवारिक गुलामी, धार्मिक रूढ़ियों, पुरुष वर्चस्व के विविध रूपों, प्रेम और विवाह के मामलों में स्वतंत्र निर्णय जैसे विषयों पर स्त्री रचनाकारों के लेख छपते थे। **रामेश्वरी नेहरू** सम्पादित **‘स्त्री दर्पण’** पत्रिका की नियमित लेखिका **उमा नेहरू** तो यूरोपीय नारीवादियों की तरह इतने उग्र रूढ़िभंजक लेख लिखती थीं कि यदि आज का असहिष्णु समय होता तो धार्मिक कट्टरपंथी पत्रिका की प्रतियाँ जलाने लग जाते। इन पत्रिकाओं में नियमित लिखने वाली **हृदय मोहिनी**, **हुक्मा देवी**, **सत्यवती**, **सौभाग्यवती** आदि दर्जनों प्रबुद्ध स्त्रियों के नाम आज भुलाये जा चुके हैं। यह है अपनी परम्परा के प्रति हमारी संवेदनशीलता। यह है हमारे हिन्दी बौद्धिक समाज का इतिहास बोध। उल्लेखनीय है कि इन अधिकांश पत्रिकाओं में स्त्री प्रश्न पर लगातार लेखों-टिप्पणियों के साथ यूरोप-अमेरिका के स्त्री अधिकार आन्दोलन के इतिहास और वर्तमान के बारे में लेख छपते रहते थे। यह अजीब बात है कि अपनी कविताओं से अलग **‘शृंखला की कड़ियाँ’** के निबन्धों में **महादेवी वर्मा** स्त्री प्रश्न की एक प्रखर और सुलझी हुई विचारक के रूप में सामने आती हैं। इन निबन्धों में महादेवी जी ने स्त्रियों की आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-पारिवारिक गुलामी का सन्तुलित विश्लेषण करते हुए स्त्रियों के सामाजिक चेतना का विस्तार, आर्थिक स्वावलम्बन और सामाजिक रूढ़ियों के प्रतिकार पर विशेष बल दिया है। निस्सन्देह इन निबन्धों में उन्होंने राष्ट्रीय जागरण काल की नारी-प्रबोधन की जनवादी मुक्ति चेतना को एक प्रतिनिधि स्वर दिया है। फिर कहानीकार **कमला देवी चौधरानी** को भी नहीं भुलाया जा सकता जो गाँधीवादी राजनीति की धारा से जुड़ी थीं, पर उनकी कहानियों की मुख्य पात्र प्रायः सुधारवाद के प्रचलित तर्कों से हटकर रूढ़ियों के प्रतिकार का रास्ता चुनती थीं और उसकी कीमत चुकाती थी। साहित्य पर प्रगतिवाद के प्रभाव ने एक ओर उर्दू में **रशीद जहाँ** और **इस्मत चुगताई** के उग्र रूढ़िभंजक स्वर को जन्म दिया, दूसरी ओर हिन्दी में **हेमवती देवी**, **चन्द्रकिरण सोनरिक्सा**, **कंचनलता सब्बरवाल** आदि का कथा-लेखन भी इस प्रभाव से अछूता नहीं था।

‘लेबर हिस्ट्री’ में इधर जो नये शोध-अध्ययन हुए हैं, वे बताते हैं कि कलकत्ता और बम्बई में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में ही स्त्री मजदूर संघर्षों में भागीदारी करने लगी थीं। यह भागीदारी बीसवीं सदी के तीसरे दशक तक लगातार बढ़ती रही। लेकिन चौथे दशक से कुल श्रम शक्ति में उनका अनुपात भी घटने लगा और आन्दोलनों में भागीदारी भी कम होने लगी। कम्युनिस्ट पार्टी ने स्त्री मजदूरों को अलग से संगठित करने और ट्रेड यूनियनों में सक्रिय मजदूरों की पुरुष-वर्चस्ववादी मानसिकता के विरुद्ध सांस्कृतिक मुहिम चलाने के लिए वस्तुतः कोई पहल नहीं ली।

राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश की मध्यवर्गीय बौद्धिक आबादी नेहरूवादी “समाजवाद” के सुनहरे सपनों के साकार होने के मुगालते में जी रही थी, किसान-मजदूर कुछ विभ्रम-संशय के शिकार थे और कुछ ठगा हुआ महसूस कर रहे थे। कम्युनिस्ट पार्टी खरशचोवी लहर आने के पहले ही संसद मार्ग पर प्रयाण कर चुकी थी। नये सत्तासीन बुर्जुआ वर्ग ने स्वस्थ जनवादी मूल्यों और आधुनिकताबोध के लिए सामाजिक आन्दोलन की राह चुनने की जगह सभी मध्ययुगीन रूढ़ियों और प्राक् आधुनिक मूल्यों-संस्थाओं के साथ समझौता कर लिया। कालान्तर में पूँजीवादी विकास की स्वतंत्र गति से जो बुर्जुआ संस्कृति पैदा हुई, वह स्वस्थ जनवादी मूल्यों से रिक्त थी। तमाम प्राक् आधुनिक मूल्यों-संस्थाओं को परिष्कृत करके उसने सहयोजित (कोऑप्ट) कर लिया और पूँजी की सेवा में सन्नद्ध कर दिया। व्यवस्था के बढ़ते संकट के साथ इस बुर्जुआ संस्कृति के रहे-सहे जनवादी तत्व भी क्षरित-विघटित होते चले गये और उनकी जगह घोर मानवद्रोही निरंकुश संस्कृति लेती चली गयी।

स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय स्त्री आन्दोलन की स्थिति को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा-समझा जा सकता है। दो दशकों की शीतनिद्रा के बाद, नक्सलबाड़ी से लेकर 1974 के जनान्दोलन तथा आपातकाल और उसके प्रतिरोध का मिले-जुले प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभाव स्त्रियों पर भी पड़ा और सत्तर के दशक में कुछ मुद्दों और कुछ घटनाओं को लेकर स्त्री आन्दोलन की सुगबुगाहट फिर से शुरू हुई। मध्यवर्गीय स्त्रियों के ऐसे स्वतंत्र संगठन बनने लगे जो किसी संसदीय पार्टी की स्त्री शाखा नहीं थे। नक्सलबाड़ी किसान-संघर्ष से पैदा हुई धारा में, भूमिहीन किसान स्त्रियों की काफी सक्रिय भागीदारी थी और मध्यवर्गीय युवा स्त्रियों की भी एक हद तक भागीदारी थी। क्रान्तिकारी छात्र राजनीति में भी स्त्री समुदाय की सक्रियता बढ़ गयी थी। लेकिन अस्सी के दशक में कई प्रतिकूल प्रभाव वाली घटनाएँ एक साथ घटीं। एक, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा का बिखराव बढ़ता ही जा रहा था। दो, गोर्बाचोव के ग्लासनोस्त-पेरेस्त्रोइका से लेकर सोवियत संघ के विघटन तक का विश्वव्यापी प्रभाव। तीन, नवउदारवादी नीतियों की पूर्वपीठिका तैयार हो चुकी थी। चार, एक सुनिश्चित साम्राज्यवादी परियोजना के तहत स्त्री आन्दोलन और सभी सामाजिक आन्दोलनों में एन.जी.ओ. की भारी घुसपैठ। इस एन.जी.ओ. सेक्टर की सैद्धान्तिकी (जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है) पश्चिम में तैयार हो चुकी थी, भारत में उसपर चर्चा-परिचर्चा और बहस-विमर्श का फैशन 1990 के दशक में शुरू हुआ। 1980-90 के दशकों में जो स्त्री आन्दोलन का उभार दीखता है, वह मूलतः मध्यवर्गीय एन.जी.ओ.पंथी सुधारवादी स्त्री आन्दोलन ही था जिसकी सैद्धान्तिकी अस्मिता राजनीति और उत्तर-नारीवाद से तैयार हुई थी। 1960 के दशक में पश्चिम के अराजकतावादी नारीवादी उभार के तो कुछ सीमित सकारात्मक पहलू भी थे, पर आज का जो यह नया अस्मितावादी नारी आन्दोलन है, यह आमूलचूल प्रतिक्रियावादी है और भूमण्डलीकरण के दौर की साम्राज्यवादी-पूँजीवादी विकृत सांस्कृतिक मूल्यों, मुक्ति की भ्रामक व रुग्ण अवधारणा तथा घोर सुधारवाद से यह रचा-बसा है। भूमण्डलीकरण के दौर की एक खास बात यह है कि पूर्व से पश्चिम का भेद इस मामले में मिट गया है कि स्त्री आन्दोलन की यही धारा अपनी विविध उपधाराओं के साथ सर्वत्र गतिमान है। इसकी पहुँच केवल प्रबुद्ध मध्यवर्गीय स्त्रियों तक ही नहीं है। एन.जी.ओ. के कार्यक्षेत्र वाले अलग-अलग इलाकों की ग्रामीण गरीब स्त्रियों और शहरी मजदूर बस्तियों तक यह सुधारवाद की बयार लेकर जा रही है और आमूलगामी परिवर्तन की एक भारी आरक्षित शक्ति को प्रभावित करने के साथ ही स्त्री समुदाय के मुक्ति-स्वप्नों को बुर्जुआ सीमान्तों की

बन्दी बना रही है। जीवन के हर क्षेत्र की तरह फिलहाल स्त्रियों के मोर्चे पर भी क्रान्ति की लहर पर प्रतिक्रान्ति की लहर हावी है, गतिरोध, विघटन और विपर्यय का अन्धकार है।

इस परिदृश्य का परावर्तन साहित्य के क्षेत्र में भी देखा जा सकता है। स्वतंत्रता के बाद दशकों तक, **कृष्णा सोबती** जैसी कुछ लेखिकाओं के प्रखर रूढ़िभंजक नारीवादी लेखन को छोड़ दें, तो स्त्री रचनाकारों का लेखन मध्यवर्गीय पारिवारिक परिवेश में दाम्पत्य, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की जटिलताओं, स्त्रियों के अलगाव आदि के ही इर्दगिर्द कथाबन्ध बुनता रहा और व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य से विच्छिन्न करके पुरुष वर्चस्व को उठाता रहा। फिर अस्सी के दशक में, विशेषकर **राजेन्द्र यादव** जब 'हंस' पत्रिका के साथ दलित अस्मिता और स्त्री अस्मिता का परचम लेकर मैदान में उतरे तो स्त्री मुक्ति के नाम पर ग्राफिक यौन आख्यानों से रसरंजन करने वाली, यौन-मुक्ति की क्रान्ति करने वाली और उसी में अपने स्वतंत्र अस्मिता की तलाश करने वाली वीरांगना नायिकाओं से भरी कहानियों-उपन्यासों का शोर दिग्दिगन्त में गूँज उठा। जुडिथ बटलर की भाष्यकार बनकर अर्चना वर्मा भी यौन-क्रान्ति की और आगे की सैद्धान्तिकी लेकर आ गयीं। कवयित्रियाँ भी क्यों पीछे रहें। पुराने नख-शिख वर्णन का उत्तर-आधुनिक संस्करण अपनी एक कविता में **अनामिका** भी लेकर आ गयीं, जिसपर 'कथादेश' में चली बहस और **शालिनी माथुर** की तीक्ष्ण आलोचना से शायद आप परिचित हों। अभी ऐसी ही यौन रसरंजित कथाकृतियों की सटीक आलोचना करते हुए शालिनी माथुर ने एक और लेख लिखा है। दिलचस्प बात यह है यौन मुक्ति के जरिए वर्जना-भंजन करने वाली इन कहानियों के बीच वैसी कहानियाँ और कविताएँ भी दीख जाती हैं जहाँ आधुनिकता के तमाम प्रहारों का सामना करने के लिए एक आधुनिक नायिका पुरुष के समक्ष स्वाभाविक समर्पिता या भावाकुल प्रेमयाची बनती यूँ दीखती है मानो रीतिकाल या छायावाद की आत्मा उसमें प्रविष्ट हो गयी हो। यह वही 'प्राच्य मासूमियत' और प्राक्-आधुनिकता को शरण्य बनाने का मार्ग है जो पार्थ चटर्जी, दीपेश चक्रवर्ती जैसे इतिहासकार तथा गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाँक और अन्य कुछ उत्तर आधुनिकतावादी नारीवादी सुझाती हैं। यह जो नयी विद्रोही नायिका है, प्रायः इसका कोई राजनीतिक-सामाजिक सरोकार नहीं होता। और ये नायिकाएँ किस बर्बर समय में यौन क्रान्ति के क्रीड़ा-कल्लोल में निमग्न हैं? जब खाप पंचायतों द्वारा प्रेमी जोड़ों की हत्या से लेकर सामूहिक बलात्कार तक की सजाएँ सुनाई जा रही हैं, जब दिल्ली सामूहिक बलात्कार काण्ड जैसी घटनाएँ देश के कोने-कोने में हो रही हैं, जब गुजरात से लेकर मुजफ्फरनगर तक दंगों में स्त्रियों को बर्बर हमले का निशाना बनाया जा रहा है और जब पार्कों में बैठे प्रेमी जोड़ों को धार्मिक कट्टरपंथी गिरोह ही नहीं, पुलिस भी दौड़ा-दौड़ाकर पीट रही है। भूमण्डलीकरण के दौर में पूरी दुनिया में और हमारे देश में स्त्री विरोधी बर्बर अपराधों में भारी बढ़ोत्तरी हुई है।

सामाजिक परिदृश्य में एक और गौरतलब बदलाव आया है। आँकड़ों के अनुसार, पिछले करीब पच्चीस वर्षों के दौरान टेक्सटाइल, गारमेण्ट, होजियरी और इलेक्ट्रानिक्स से लेकर मशीनरी उद्योग में काम करने वाली स्त्री मजदूरों की संख्या में भारी बढ़ोत्तरी हुई है। उनमें से 98 प्रतिशत दिहाड़ी, ठेका, कैजुअल या पीस रेट पर, बेहद कठिन परिस्थितियों में खटने वाली मजदूर हैं और यूनियनों के दायरे में नहीं हैं। आम मध्यवर्गीय घरों की स्त्रियाँ भी बड़े पैमाने पर नौकरी कर रही हैं और आर्थिक शोषण के साथ ही कदम-कदम पर पुरुष वर्चस्ववादी उत्पीड़न को झेल रही हैं। इनकी घुटन और विद्रोह की भावना को पूरी सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध निर्देशित करके ही एक सच्चा क्रान्तिकारी स्त्री आन्दोलन खड़ा किया जा सकता है।

आवश्यकता इस बात की है कि मेहनतकश और आम मध्यवर्गीय स्त्रियों को एक साथ पुरुष वर्चस्व की संस्कृति, मध्ययुगीन बर्बरता और आधुनिक बर्बरता के विरुद्ध संगठित किया जाये और एक व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक और जनवादी अधिकार आन्दोलन की नयी शुरुआत की जाये। साथ ही स्त्री मजदूरों को अलग से भी संगठित करने की जरूरत है, क्योंकि यूनियनों में पुरुषवर्चस्ववाद उन्हें पीछे धकेल देता है और उनकी विशिष्ट माँगों को दरकिनार कर देता है और आम स्त्री संगठनों में वे प्रबुद्ध मध्यवर्गीय स्त्रियों का झोला ढोने लगती हैं। एक जगह वे जेण्डर के आधार पर मारी जाती हैं और दूसरी जगह वर्ग के आधार पर। जब उनके स्वतंत्र संगठन होंगे तभी यूनियनों और आम स्त्री संगठनों में भी उनकी प्रभावी भागीदारी हो सकेगी।

आज के बेहद कठिन और गतिरुद्ध समय में यह सोच एक मंसूबावादी सोच लग सकती है। पर समय ऐसा ही नहीं रहेगा। दुनिया के विभिन्न हिस्सों में लगातार भड़कते स्वतःस्फूर्त जनविद्रोह और उनमें स्त्रियों की भागीदारी भविष्य का पूर्वसंकेत दे रही है। दुनिया की बदली परिस्थितियों का सही-सटीक आकलन करने वाली क्रान्तिकारी हरावल शक्तियाँ फिर से उठ खड़ी होंगी ही, क्योंकि गम्भीर वैचारिक मंथन और छोटे-छोटे नये सामाजिक प्रयोगों का सिलसिला भी शुरू हो चुका है। ये शक्तियाँ स्त्री समुदाय को नये सिरे से संगठित किये बिना विद्रोहों को क्रान्ति में रूपान्तरित नहीं कर सकतीं। और यह पुरानी बात आज भी सही है और हमेशा सही रहेगी कि आधी आबादी की मुक्ति की लड़ाई को साथ जोड़े बिना समस्त शोषित-उत्पीड़ित जनों की मुक्ति के बाद नये समतामूलक समाज के निर्माण के बिना स्त्रियों की पराधीनता और पुरुषवर्चस्ववाद का समूल उच्छेद सम्भव नहीं।

जीवन का पुनः अंकन कला की सामान्य विशिष्टता है और इसी में उसकी चरितार्थता निहित है। कलाकृतियाँ बहुधा एक अन्य उद्देश्य भी पूरा करती हैं : वह है जीवन की व्याख्या करने और जीवन के घटना-प्रवाह पर अपना अभिमत प्रकट करने का उद्देश्य।

– चेर्नीशेव्स्की (19वीं सदी के प्रसिद्ध रूसी लेखक)

कला-संस्कृति, शिक्षा एवं अकादमिक जगत पर भगवा फासिस्टों का बर्बर हमला

● आनन्द सिंह

फासीवाद की यह विशेषता है कि जहाँ एक ओर वह मजदूर आन्दोलन का बर्बर दमन करता है और नागरिक व जनवादी अधिकारों को छीनकर बुर्जुआ जनवादी स्पेस को खत्म करता जाता है वहीं दूसरी ओर वह संस्कृति के क्षेत्र को अपनी रणभूमि बनाकर अपनी अतार्किक, कूपमण्डूक और दक्कियानूसी संस्कृति का वर्चस्व कायम करता है और मिथकों को सहज बोध के रूप में स्थापित करने की कुटिल चाल रचता है। नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में एनडीए सरकार के सत्ता में आने के एक साल के भीतर ही जिस तरीके से कला-संस्कृति, शिक्षा एवं अकादमिक संस्थानों में उच्च पदों पर रद्दोबदल करते हुए संघ परिवार से जुड़े लोगों को नियुक्त किया जा रहा है वह संस्कृति के क्षेत्र को भगवा रंग में रंगने की हिन्दुत्ववादी फासिस्टों की रणनीति की ओर स्पष्ट संकेत है।

पुणे के प्रतिष्ठित फिल्म एण्ड टेलीविज़न इंस्टीट्यूट (एफटीआईआई) के गवर्निंग काउंसिल के चेयरमैन के पद पर बी ग्रेड, सी ग्रेड व अश्लील फिल्मों में बतौर नायक काम करने वाले और महाभारत धारावाहिक में युधिष्ठिर की भूमिका अदा करने वाले तथा टेलीविज़न पर ज्योतिष, तंत्र-मंत्र, रक्षा-कवच यंत्र की मार्केटिंग करने वाले भारतीय जनता पार्टी के सक्रिय सदस्य गजेन्द्र चौहान को नियुक्त किये जाने के बाद से एफटीआईआई के छात्रों की हड़ताल और देश के अलग-अलग हिस्सों में इस हड़ताल को मिले जबर्दस्त समर्थन की वजह से यह मुद्दा अब राष्ट्रीय मीडिया की सुर्खियों में भी आ गया है। लेकिन बात सिर्फ गजेन्द्र चौहान तक सीमित नहीं

है। एफटीआईआई की गवर्निंग काउंसिल में गजेन्द्र चौहान के अलावा 5 अन्य सदस्यों - नरेन्द्र पाठक, अनघा घईसस, प्रांजल सैकिया, राहुल सोलापुरकर और शैलेश गुप्ता का सीधे-सीधे संघ परिवार से सम्बन्ध है। नरेन्द्र पाठक अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद (एबीवीपी) की इन-हाउस पत्रिका के 14 साल तक सम्पादक रह चुके हैं, अनघा घईसस 21 वर्षों तक संघ के प्रचारक रह चुके हैं, प्रांजल सैकिया संघ के आनुषंगिक संगठन संस्कार भारती के पदाधिकारी हैं, राहुल सोलापुरकर भाजपा के सदस्य हैं और शैलेश गुप्ता ने पिछले साल लोकसभा चुनावों से पहले मोदी की एक घटिया प्रचारात्मक फिल्म “शपथ मोदी की” बनायी थी। गवर्निंग काउंसिल में संधियों का घुसाने की मोदी सरकार की नीति के विरोध में उसके कुछ सदस्यों - सिनेमैटोग्राफर सन्तोष सिवान, अभिनेत्री पल्लवी जोशी और निर्देशक जाहनू बरुआ ने इस्तीफा दे दिया है। गजेन्द्र चौहान की नियुक्ति के पीछे संघ का हाथ है यह बात संघ के मुखपत्र ऑर्गनाइज़र में प्रकाशित एक लेख से स्पष्ट हो जाती है जिसमें गजेन्द्र चौहान की नियुक्ति का खुलकर बचाव किया गया है और इस नियुक्ति का विरोध कर रहे लोगों विचारधारा से प्रेरित बताया गया है।

एफटीआईआई में छात्रों की हड़ताल की वजह से यह मुद्दा भले ही अब सुर्खियों में आया हो लेकिन मोदी सरकार ने शिक्षा, संस्कृति और अकादमिक जगत के संस्थानों के भगवाकरण पिछले साल सत्तासीन होने के साथ ही शुरू कर दी थी। पिछले साल मई में भाजपा की भारी जीत के बाद शिमला स्थित इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज़ (आईआईएस) के चेयरमैन गोपाल गाँधी ने इस्तीफा दे दिया था और उसके बाद मोदी सरकार में मानव संसाधन विकास मंत्री स्मृति ईरानी ने बिना किसी प्रक्रिया का पालन करते हुए चन्द्रकला पाडिया को आईआईएस का चेयरमैन बना दिया। गौरतलब है कि चन्द्रकला पाडिया आईआईएस जैसे प्रतिष्ठित संस्थान के चेयरमैन पद पर नियुक्त होने की कोई योग्यता नहीं रखती हैं। उनकी नियुक्ति सिर्फ सत्तासीन पार्टी से करीबी की वजह से की गयी।

पिछले साल अक्टूबर में एनसीईआरटी की निदेशक परवीन सिक्लेयर को उनके कार्यकाल पूरा होने के दो वर्ष पूर्व ही इस्तीफा देना पड़ा। गौरतलब है कि परवीन सिक्लेयर ने 2005 में नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क की शुरुआत करने में अहम भूमिका निभाने की सज़ा मिली क्योंकि उसमें उन्होंने पिछली एनडीए सरकार द्वारा एनसीईआरटी की पाठ्य पुस्तकों को भगवा रंग में रंगने की प्रक्रिया को उलट दिया था।

इतिहास का विकृतिकरण फासीवादियों के सबसे प्रमुख हथियारों में से एक होता है। पिछले साल जुलाई में भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद(आईसीएचआर) के चेयरमैन के पद पर वाई सुदर्शन राव जैसे संधी की नियुक्ति को इसी रोशनी में देखा जाना चाहिए। ये महाशय संघ के एक आनुषंगिक संगठन अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के आंध्र चैप्टर के प्रमुख भी हैं। वे खुले आम जाति प्रथा का महिमामंडन कर चुके हैं और महाभारत व रामायण की ऐतिहासिकता सिद्ध करने एवं इतिहास के पुर्नलेखन की अपनी महत्वकांक्षा को छिपाते नहीं हैं। राव के अलावा कुछ अन्य संधियों को भी आईसीएचआर के शीर्ष पदाधिकारियों के रूप में नियुक्त किया गया है जिनमें से कई तो ऐसे हैं जिनका इतिहास से कोई लेना-देना ही नहीं है। आईसीएचआर के विश्वविख्यात शोधपत्र ‘इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू’ के सम्पादकीय बोर्ड में संधियों की तैनाती हो चुकी है और उसके सलाहकार बोर्ड से रोमिला थापर, इरफान

हबीब और मुशीरुल हक जैसे प्रख्यात इतिहासकारों को हटा दिया गया है। इसी तरह से भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद (आईसीसीआर) के प्रमुख के पद पर 87 वर्षीय लोकेश चन्द्रा को नियुक्त किया गया है जिन्होंने मोदी भक्ति का नमूना देते हुए हाल ही में यह बयान दिया है कि मोदी गाँधी से भी बड़े नेता हैं। इसके अलावा इस साल मार्च में संघ के मुखपत्र 'पांचजन्य' के पूर्व सम्पादक बलदेव शर्मा को नेशनल बुक ट्रस्ट के चेयरमैन के पद पर बैठाया गया है।

पहलाज निहलानी को मोदी के चुनाव प्रचार का वीडियो "हर-हर मोदी, घर-घर मोदी" बनाने के पुरस्कार के रूप में को सेंट्रल बोर्ड ऑफ फिल्म सर्टिफिकेशन, यानी सेंसर बोर्ड का चेयरमैन बनाया गया है। इसी तरह से चिल्ड्रेन फिल्म सोसाइटी का चेयरमैन महाभारत में भीष्म पितामह और कॉमिक सीरियल शक्तिमान में मुख्य रोल करने वाले मुकेश खन्ना को बनाया गया है। प्रसार भारती का चेयरमैन सूर्यप्रकाश को बनाया गया है जो भाजपा की ओर पूरी तरह झुकाव रखने वाले अखबार पॉयनियर के सम्पादक रह चुके हैं और संघ के थिंक टैंक विवेकानन्द इंटरनेशनल फाउंडेशन से जुड़े हैं। यही नहीं सेंसर बोर्ड के कोलकता के सलाहकार मंडल में भी ऐसे संधियों को भरने की खबर सुर्खियों में है जिनका फिल्मों से दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं है। नवनियुक्त सदस्यों में जब एक से पूछा गया कि आपकी योग्यता क्या है तो उसने बेहद हास्यास्पद जवाब देते हुए कहा कि कि उसे फिल्मों का बहुत शौक है और उसके घर में 500 फिल्मों की बहुत बड़ी लाइब्रेरी है।

कला ही नहीं विज्ञान एवं प्रबंधन के प्रतिष्ठित संस्थानों के भगवाकरण की कोशिशें मोदी सरकार के एक साल के कार्यकाल में साफ़ देखी जा सकती हैं। इसी तरह से इस साल मार्च में प्रख्यात नाभिकीय वैज्ञानिक अनिल काकोदकर को रोपड़, भुवनेश्वर और पटना के आईआईटी में निदेशक के पद के चुनाव को लेकर मानव संसाधन मंत्री से हुए मतभेद के चलते आईआईटी बॉम्बे की गवर्निंग बॉडी से अपने कार्यकाल पूरा होने से पहले ही इस्तीफा देना पड़ा। इसी तरह नागपुर के इंजीनियरिंग कॉलेज एनआईटी में संघ के प्रचारक को नियुक्त किया गया है। संघ के मुखपत्र ऑर्गनाइज़र में एक हालिया लेख में आईआईटी एवं आईआईएम को "हिन्दू-विरोधी" एवं "भारत-विरोधी" गतिविधियों का अड्डा बताया गया है और यह कहा गया है कि इन संस्थानों में "ओछी नैतिकता वाले" "कांग्रेसी" व "वामपंथी" अध्यापकों का दबदबा है जो वहाँ के छात्रों को बिगाड़ते हैं। संघ का इशारा साफ़ है कि आने वाले दिनों में इन संस्थानों में "हिन्दू नैतिकता" वाले संधियों को भरा जायेगा ताकि छात्रों में भक्तिभाव के अलावा और कोई भाव न आने पाये।

मोदी सरकार संसद से इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट बिल पास कराने की फ़िराक में है जिसके बाद आईआईएम जैसे प्रतिष्ठित प्रबंधन संस्थानों के संचालन और उनके शीर्ष पदाधिकारियों की नियुक्तियों में सरकार की दखलन्दाजी पहले से कहीं अधिक बढ़ जायेगी।

इसके अलावा कई विश्वविद्यालय के कुलपतियों की नियुक्ति में संघ परिवार से जुड़े लोगों को वरीयता दी जा रही है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में गिरीश चन्द्र त्रिपाठी और भोपाल के माखन लाल चतुर्वेदी पत्रकारिता विश्वविद्यालय में कुलपति बीके कुठियाला के संघ के रिश्ते जगजाहिर हैं। अमर्त्य सेन को नालन्दा विश्वविद्यालय के चांसलर पद से पहले ही हाथ धोना पड़ा है। अपने इस्तीफे के वक्त सेन ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि मोदी सरकार के

आने के बाद भारत में अकादमिक स्वतंत्रता पर बहुत जबरदस्त खतरा मंडरा रहा है। आने वाले दिनों में भाजपा शासित राज्यों एवं केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के भगवाकरण की प्रक्रिया और ज़ोर पकड़ेगी।

कला, संस्कृति, इतिहास, विज्ञान, शिक्षा, सिनेमा आदि से जुड़े संस्थानों में बड़े पैमाने पर संघ परिवार से जुड़े लोगों की ये नियुक्तियाँ यह बता रही हैं कि अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमंत्री बनने के काल में मुरली मनोहर जोशी के की अगुवाई में जो भगवाकरण किया गया था उसके मुकाबले इस बारे कहीं ज़्यादा योजनाबद्ध तरीके से भगवाकरण को अंजाम दिया जा रहा है।

जैसा कि ब्रेष्ट ने कहा था कि फासीवाद का मुकाबला सिर्फ़ मानवतावादी गुहारों के ज़रिये लोगों के दिलो-दिमाग में दखल करने की सौन्दर्यशास्त्रीय तरीके से नहीं किया जा सकता। फासीवाद के खिलाफ़ एक जुझारू सांस्कृतिक आन्दोलन खड़ा करने के लिए कला और संस्कृति के मोर्चे को कहीं अधिक गम्भीरता से लेने की ज़रूरत है। कुलीनतावादी, अकर्मक, सांकेतिक, अनुष्ठानधर्मी, पैसिव एवं रक्षात्मक तरीकों से फासीवाद का मुकाबला कतई नहीं किया जा सकता।

‘मजदूर वर्ग के विचारक’ (लेनिन), ‘सर्वहारा के ऑर्गेनिक बुद्धिजीवी’ (ग्राम्शी) बनने के लिए बुद्धिजीवियों को अपने विचारों में एक आमूलगामी क्रान्ति करनी होगी; एक लम्बी, कष्टसाध्य और कठिन पुनर्शिक्षा चलानी होगी। एक अन्तहीन बाह्य और *आन्तरिक* संघर्ष चलाना होगा।

— लुई अल्थूसर

नवसाम्राज्यवाद की रणनीति, लाभरहित संस्थाओं के विखण्डित जनान्दोलन और नोबल पुरस्कारों के निहितार्थ

● मीनाक्षी

इस बार पाकिस्तान की मलाला युसुफ़ज़ई और भारत के कैलाश सत्यार्थी को संयुक्त रूप से नोबल शान्ति पुरस्कार प्रदान किया गया है। यह साझा पुरस्कार इन्हें बाल अधिकारों के संरक्षण और सुरक्षा के प्रोत्साहन के लिए मिला है। बाल उत्पीड़न से मुक्त कर बच्चों का बचपन बचाने के लिए कैलाश सत्यार्थी को और लड़कियों की शिक्षा को सुनिश्चित करने के लिए आतंकवादी निशाने पर आई मलाला युसुफ़ज़ई को। इस चयन को गैरवर्गीय मानवतावाद के अराजनीतिक चश्मे से देखने का दुराग्रह चयन समिति की निष्पक्षता व राजनीतिक तटस्थता के प्रति आश्वस्त का भाव पैदा तो करता ही है। इस आशंका को भी निर्मूल सिद्ध करने पर तुला रहता है कि ये पुरस्कार शोषणकारी व्यवस्था के सम्पूर्णखात्मे के बगैर, मात्र कल्याणवादी कार्रवाइयों के आधार पर शोषण-उत्पीड़न से मुक्ति और सर्वसुलभशिक्षा की सम्भाव्यता को सामाजिक चेतना में विनयस्त भी करते हैं।

कैलाश सत्यार्थी और उनके 'बचपन बचाओ आन्दोलन' की तृणमूल स्तर की समूची कार्रवाइयों को बाल श्रम की मुक्ति के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है। अभी तक उन्हें यदा-कदा मुक्त कराये गये बाल मजदूरों के साथ नत्थी उनकी तस्वीरों और इससे जुड़े अख़बारी बयानों के ही माध्यम से यहाँ महज़ एक छोटे से दायरे में जाना जाता था। शेष दुनिया के लिए वे लगभग अज्ञात ही रह गये

थे। उनके कामों की व्यापकता भी ऐसी नहीं थी कि आम लोगों की स्मृतियों में उसकी छवि छाप बनी रहे। एक समय वे चर्चा में तब आये थे जब बच्चों के सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक विकास के लिए निर्मित 'मुक्ति आश्रम' और 'मुक्ति प्रतिष्ठान न्यास' (जिसके अन्तर्गत मुक्ति आश्रम संचालित है) पर उनके कर्मचारियों और न्यासीगण द्वारा भ्रष्टाचार और घनघोर वित्तीय अनियमितताओं का आपराधिक मुकदमा दर्ज किया गया था। अदालती जाँच में भी इसके पुष्ट होने और फलस्वरूप सर्वसम्मति से उनके प्रतिष्ठान से निष्कासन के तथ्य भी सामने आये थे। ऐसे कई तथ्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि उनका तथाकथित बेदाग आचरण या सामाजिक प्रतिबद्धता सन्देह से परे नहीं। इसकी क्या वजह है कि इसी उद्देश्य से संचालित ये संस्थाएँ अपनी सक्रियताओं के उत्कट प्रदर्शन के बावजूद बाल श्रम से मुक्त बच्चों के भौतिक आत्मिक शैक्षिक पुनर्वास के बारे में किन्हीं ठोस परिणामों की जानकारी अभी तक उपलब्ध नहीं करा पायी हैं, जबकि स्वयं सत्यार्थी के शब्दों में उनके गैरसरकारी संगठनों और स्वयंसेवी संस्थाओं के माध्यम से अब तक 83,525 बच्चे मुक्त कराये जा चुके हैं। मीडिया में जिन मुक्त हुए बच्चों की कथा खुद उनकी मुँहजुबानी सामने आयी है उसकी वास्तविकता से अनभिज्ञ लोगों को 'फोर्ब्स' पत्रिका की पत्रकार की 2008 की वह रिपोर्ट देखनी चाहिए जिसमें उन्होंने बच्चों के साक्षात्कार के माध्यम से इस झूठ का पर्दाफाश किया था कि किस प्रकार सामान्य घरों के बच्चों को मुक्त हुए बाल श्रमिकों के रूप में प्रस्तुत करने की साजिश बचपन बचाओ आन्दोलन से जुड़े एक स्वयंसेवी ने की थी।

सत्यार्थी ने बाल अधिकारों की हिफाजत के लिए भारत समेत नेपाल, बंगलादेश, पाकिस्तान जैसे दक्षिण एशिया के देशों में कार्यरत स्वयंसेवी संस्थाओं के गठबन्धन से साउथ एशियन कोलिशन ऑन चाइल्डहुड सर्विस (साक्स) संस्था का गठन भी किया है। ये सभी स्वयंसेवी संस्थाएँ अपने-अपने देशों में उन तथाकथित सामाजिक उद्यमियों द्वारा समाज कल्याण के नाम पर गठित की गयी हैं जो गैरक्रान्तिकारी बदलाव के लिए 'क्रान्तिकारी' तरीकों के प्रयोग में ही रुचि रखते हैं। सत्यार्थी जी के एसोसिएशन फॉर वालण्टरी ऐक्शन (आव) का उद्देश्य भी ऐसी ही सुधारवादी कार्यवाइयाँ संचालित करते रहना है जिससे बदलाव का भ्रम बना रहे। यानी क्रान्तिकारिता के आवरण तले सुधारवादी गैरक्रान्तिकारी बदलाव! कैलाश जी ऐसी ही एक और संस्था 'अशोका' से भी जुड़े हैं जिसकी स्थापना बिल ड्रायटन ने उनके जैसे 'सामाजिक उद्यमियों' का एक विशाल तानाबाना खड़ा करने के लिए की थी। क्या यह महज इतना है कि अर्थशास्त्र के विगत नोबल पुरस्कार विजेता मोहम्मद यूनुस भी इसी संस्था से जुड़े हुए हैं और मलाला युसुफ़ज़ई के एक शिक्षक और परामर्शदाता भी। सत्यार्थी जी ने अपनी इस 'सामाजिक उद्यमिता' का इस्तेमाल 'रगमार्क' के व्यायसायिक निशानवाली कम्पनी की स्थापना करने में (जो अब गुडवीव के नाम से भी जानी जाती है) भी किया। एक ओर उन्होंने इस ट्रेडमार्क कम्पनी के माध्यम से उन भारतीय कालीनों के अन्तर्राष्ट्रीय बहिष्कार की अपील की जिनमें बाल श्रम लगा हुआ हो, और दूसरी ओर वे बच्चों के प्रति उसी तर्ज पर 'मानवीय भावना का भूमण्डलीकरण' करने की बात करने लगे जिस तर्ज पर लम्पट और भ्रष्ट अमेरिकी राजनीतिज्ञ बिल क्लिंटन, सन्तुष्ट सिने अदाकारा एंजिलिना जोली और नूरीना हर्ट्ज़ जैसे सम्पन्नता से अघाये लोग मानवीय पूँजीवाद और तथाकथित 'तीसरा रास्ता' की वकालत करते हैं। उन्होंने इस पूरे कारोबार को यहाँ तक पहुँचा दिया कि कालीन पर रगमार्क का लेबल

बाल श्रम की अप्रयुक्तता निर्धारित करने का मानदण्ड बन गया। प्रश्न यह है कि भदोही जैसे बड़े कालीन उद्योग में लगे बाल श्रम के खात्मे का एजेण्डा छोड़कर रगमार्क के जरिये बालश्रम से मुक्त कालीन का अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार के लिए प्रोत्साहन और पश्चिमी देशों द्वारा इसकी स्वीकार्यता का औचित्य क्या हो सकता है। बालश्रम से मुक्त निर्यातयोग्य कालीन के व्यापार प्रोत्साहन में पश्चिमी जगत विशेषकर जर्मनी की गहरी रुचि है। यह तथ्य भी निर्विवाद है कि बाल श्रम के विरोध में जागरूकता के प्रचार-प्रसार के लिए सत्यार्थी द्वारा आयोजित 'ग्लोबल मार्च' को जर्मन और अमेरिकी फाउण्डेशन द्वारा 20 लाख डालर का अनुदान प्राप्त हुआ था। दुनिया के कई देशों पर थोपे गये भयंकर युद्धों और ड्रोन हमलों में लाखों बच्चों का कत्लेआम करनेवाले साम्राज्यवादी देश आज बाल अधिकारों के प्रति इतने संवेदनशील क्यों हो उठे हैं!

बाल श्रम निर्मित कालीन बहिष्कार की यह गुत्थी उसके राजनीतिक अर्थशास्त्र में छिपी हुई है। यह सर्वविदित है कि साम्राज्यवादी पूँजी और विकसित प्रौद्योगिकी के दम पर विश्व बाज़ार पर नियंत्रणकारी सत्ता स्थापित करनेवाले ये देश भारत सहित तीसरी दुनिया के देशों को बाज़ार में टिकने नहीं देते। परन्तु संकटकाल और आर्थिक मन्दी के दौर में वैश्विक स्तर पर अधिशेष विनियोजन में हिस्सेदारी बढ़ाने को लेकर दोनों के बीच खींचतानी बढ़ जाती है। कालीन और तैयारशुदा वस्त्रों का उत्पादन करनेवाले भारत और तीसरी दुनिया के देशों के लिए ऐसे समय में अपने-अपने देशों की गरीबी के मार से सर्वाधिक त्रस्त आबादी खासकर स्त्रियों और बच्चों के सस्ती से सस्ती दर पर निचोड़े गये श्रम की बंदौलत उत्पादन लागत को इतना अधिक घटाना सम्भव हो जाता है कि विश्व बाज़ार में वे येन केन प्रकारेण जगह बना लेते हैं। तब उन्हें बेदखल करने और अपना वर्चस्व कायम रखने के लिए साम्राज्यवादी देश अन्तर्राष्ट्रीय दाता एजेंसियों और उनके फण्ड पर चलनेवाली ऐसी ही स्वयंसेवी संस्थाओं या एनजीओ के माध्यम से जनकल्याण के आवरण में अपना हित साधते हैं। बाज़ार पर नियंत्रण की पुनर्बहाली की इस साम्राज्यवादी कोशिश को मदद पहुँचाना ऐसे तथाकथित कल्याणकारी अभियानों और परियोजनाओं के केन्द्र में होता है। समझा जा सकता है कि कैलाश सत्यार्थी और उनकी स्वयंसेवी संस्थाएँ किस तरह अमेरिकी और यूरोपीय दाता एजेंसियों के पे-रोल पर 'क्लेशकारी उद्योग' के उद्धारक की भूमिका निभा रही हैं। इसके लिए उन्हें राबर्ट केनेडी सहित कई यूरोपीय और अमेरिकी पुरस्कार भी मिले हैं।

'बचपन बचाओ आन्दोलन' की गतिविधियों का संचालन वेतनभोगी स्टाफ के माध्यम से होता है। उनकी नियुक्ति भी औपचारिक ढंग से की जाती है। परियोजना अधिकारी, कार्यकारी अधिकारी, कार्यकारी सहायक जैसी कई रिक्तियों के लिए आमंत्रित आवेदन सम्बन्धी विज्ञापन देवनेट जाब्स इण्डिया की वेबसाइट पर देखा भी जा सकता है जिसमें 'बचपन बचाओ आन्दोलन' ने अपने आपको समान अवसर प्रदान करनेवाले नियोक्ता के रूप में प्रस्तुत किया था। इसलिए यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि क्या किसी भी सामाजिक उपक्रम या क्रान्तिकारी आन्दोलन का संचालन वेतनभोगी कर्मचारियों के बलबूते किया जा सकता है। तर्क यही बताता है कि स्वयं सामाजिक सेवा ही जब आय का ज़रिया बन जाये तो तमाम सदिच्छाओं के बावजूद धन का पहलू कालान्तर में प्रधान बन जाता है और सामाजिक सक्रियता गौण। दूसरे, सम्भावना-सम्पन्न रैडिकल तत्व अनजाने ही इस तरह की स्वयंसेवी

संस्थाओं के जाल में फँसकर क्रान्तिकारा धारा से दूर हो जाते हैं क्योंकि यहाँ उन्हें सामाजिक सेवा की गौरवानुभूति तो होती ही है, सुरक्षित जीवन की बेफिक्री भी मिलती है। ऐसे में कोई भी क्रान्तिकारी सामाजिक आन्दोलन किसी भौतिक प्रोत्साहन से नहीं बल्कि पूर्णकालिक समर्पित कार्यकर्ताओं के भरोसे ही खड़ा किया जा सकता है।

ऐसे गैर सरकारी और गैर पक्षधर संगठनों की यह निजी स्वैच्छिक कार्रवाइयाँ परोपकारिता और मानवता का एक ऐसा आभामण्डल उत्पन्न करती हैं जो राज्य द्वारा क्रमशः कल्याणकारी नीतियों के परित्याग और नवउदारवादी नीतियों के विनाशकारी प्रभाव के प्रति जनता को उदासीन बनाने के काम में निरन्तर सक्रिय है। अतः यह स्पष्ट है कि संसदीय वामपंथियों और संशोधनवादी या सुधारवादी राजनीतिक दलों (जिन्हें लेनिन ने सामाजिक जनवादी कहा था) के नेपथ्य में खिसकने के बाद पूँजीवाद की दृढ़ सुरक्षापंक्ति के रूप में इन स्वयंसेवी संस्थाओं की भूमिका अत्यन्त प्रभावी हो उठी है। गैर क्रान्तिकारी परिवर्तन के पक्षधर बुर्जुआ धड़े के ऐसे सुधारवादी 'क्रान्तिकारियों' को मार्क्स ने बुर्जुआ समाजवादी कहा है और इनपर तथा इनके दर्शन दारिद्र्य पर सटीक टिप्पणी की है—

'बुर्जुआ वर्ग का एक हिस्सा समाज की बुराइयों को इसलिए दूर करने का इच्छुक बन जाता है ताकि बुर्जुआ समाज के अस्तित्व को बरकरार रखा जा सके। अर्थशास्त्री, परोपकारी, मानवतावादी, श्रमजीवी वर्गों की हालत सुधारने के आकांक्षी, खैरात बँटवानेवाले प्रबन्धक, पशु-रक्षा समितियों के सदस्य, नशे के दुराग्रही, हर कल्पनीय प्रकार के छोटे-मोटे सुधारक—सभी इसी श्रेणी में आते हैं। इसके अलावा, इस तरह के समाजवाद का एक सम्पूर्ण पद्धति के रूप में विशदीकरण तक कर दिया गया है

“बुर्जुआ समाजवादी आधुनिक सामाजिक अवस्थाओं का पूरा लाभ उठाना चाहते हैं, लेकिन आधुनिक अवस्थाओं में अनिवार्यतः उत्पन्न संघर्षों और खतरों से दूर रह कर ही। वे मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को चाहते हैं लेकिन बगैर उसके क्रान्तिकारी और विघटनशील तत्व के ही।

“इस समाजवाद का एक दूसरा, अधिक व्यावहारिक परन्तु कम व्यवस्थित रूप वह है जो प्रत्येक क्रान्तिकारी आन्दोलन को मजदूर वर्ग की दृष्टि में यह दिखाकर गिराना चाहता है कि उसे मात्र राजनीतिक सुधारों द्वारा नहीं, अपितु जीवन के भौतिक अवस्थाओं, आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन द्वारा ही कोई लाभ हो सकता है। लेकिन जीवन की भौतिक अवस्थाओं में परिवर्तन से इस समाजवाद का मतलब यह कदापि नहीं है कि उत्पादन की पूँजीवादी पद्धतियों को समाप्त कर दिया जाये, जिसे क्रान्ति के जरिये ही समाप्त किया जा सकता है, बल्कि उसका मतलब इन्हीं सम्बन्धों पर आधारित प्रशासकीय सुधारों से है, अर्थात् ऐसे सुधारों से जो किसी हालत में पूँजी और श्रम के सम्बन्धों में परिवर्तन नहीं लाते और ज़्यादा से ज़्यादा बुर्जुआ सरकार का खर्च कम कर देते हैं और उसके प्रशासकीय कार्यों को कुछ सरल बना देते हैं।”

मार्क्स की यह टिप्पणी कैलाश सत्यार्थी और उनके जैसे 'क्रान्तिकारियों' पर, जो पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों पर षडयन्त्रकारी चुप्पी साधकर मानवता, करुणा, जीवन स्थितियों में सुधार आदि की शेखचिल्ली जैसी बातें करते हैं, आज भी उतनी ही सटीकता से लागू होती है जितना 170 साल पहले।

सत्यार्थी जी को आईएलओ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की रिपोर्टें ही यह बता देंगी कि पिछले 15 सालों में भारत समेत दुनियाभर में बाल मजदूरी के आंकड़ों में इज़ाफ़ा हुआ है। 5

से 7 साल जैसी छोटी आयु में भी मजदूरी के लिए बाध्य बच्चों की संख्या ही इस रिपोर्ट के अनुसार 21 करोड़ 50 लाख तक पहुँच गयी है। इनमें 14 साल तक के बाल मजदूरों को भी जोड़ दिया जाये तो यह संख्या और भी अधिक हो जायेगी। सत्यार्थी जी और बाल अधिकारों के लिए 'संघर्ष' करनेवाली अन्य स्वयंसेवी संस्थाओं के 'निजी स्वैच्छिक गतिविधियों' और 'जन सहभागिता व जन पहलकदमी द्वारा विकास' के बावजूद आज भारत में बाल मजदूरों की संख्या 10 से 16 करोड़ तक जा पहुँची है और आगे भी यह दर बढ़ती जायेगी। यह बिल्कुल साफ हो चुका है कि मानवीय भावना के भूमणलीकरण जैसे आडम्बरपूर्ण नारे या महज मुक्ति अभियानों का सिलसिला अव्वलन तो इन बाल मजदूरों को उनके नारकीय जीवन से मुक्ति नहीं दिला सकता और यदि एकबारगी इन्हें मुक्ति मिल भी जाये तो नवसाम्राज्यवादी नीतियाँ उनकी जगह बाल मजदूरों की उसी विशाल संख्या को फिर से लाकर खड़ा कर देंगी। मन्दी के संकटग्रस्त समय में आज खुले बाज़ार की व्यवस्था अधिक से अधिक निचोड़े गये सस्ते श्रम की बदौलत ही अपना अस्तित्व बचाये रख सकती है। बालश्रम के उद्गम को प्रश्नांकित किये बिना कैलाश सत्यार्थी और उनके बचपन बचाओ आन्दोलन के लिए बचपन बचाने की कार्रवाई वास्तव में नवउदारवाद की नीतियों के अनुरूपही है।

नोबल शान्ति पुरस्कार की साझी विजेता मलाला युसुफ़ज़ई साहसिकता को तिलांजलि देकर शान्ति कपोत के रूप में साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा सहयोजित कर ली गयी हैं। पुरस्कार के लिए उन्हें चुनकर आतंकवाद के विरुद्ध संघर्ष के प्रतीक के तौर पर उनका इस्तेमाल अत्यन्त चतुराई से किया गया है। इसका असर यह रहा कि पश्चिमी जगत को तालिबान और आईएस जैसे अपने ही पैदा किये हुए आतंकवादी संगठनों के खिलाफ़ माहौल निर्माण करने में सहायता मिली, जिनकी आतंकवादी कार्रवाइयाँ अब खुद उनके लिए परेशानी का सबब बन गयी हैं। यदि मलाला मार दी गयी होती तो दुनिया के लिए वह अनजानी ही रहती ठीक वैसे ही जैसे युद्धों और ड्रोन हमलों द्वारा सामूहिक कब्रों में दफन कर दिये गये पाकिस्तान, लीबिया, यमन और सीरिया के वे बच्चे जो अनाम ही रह गये। इसके साथ ही इस पुरस्कार की एक और भूमिका बनी। शिक्षा के लिए लड़नेवाली एक बिचारी लड़की को उसके देश के बर्बरों से बचाकर, एक कल्याणकारी संघर्ष के प्रति उसकी निष्ठा के लिए पुरस्कार देने का यह काम लोगों के भीतर 'मानवीय पूँजीवाद' की स्वीकार्यता पैठाने के भी काम आ गया।

बर्बर इसरायली आक्रमण में मारी गयीं फिलिस्तीनी स्त्रियाँ और बच्चे, अमेरिकी सैनिकों द्वारा बलात्कृत स्त्रियाँ और वह 14 वर्षीय इराकी लड़की अबीर जो 5 अमेरिकी सैनिकों के बलात्कार का उस समय शिकार बनी जब वह शिक्षा के लिए स्कूल जा रही थी-शान्ति के लिए पुरस्कृत मलाला को अब ये घटनाएँ मथती नहीं। बच्चियों के अधिकारों के बार में अब वह अधिक से अधिक संयुक्त राष्ट्र जैसी अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं से हस्तक्षेप की अपील भर कर सकती हैं। जैसाकि उन्होंने आतंकवादी संगठन बोको हरम द्वारा अपहृत नाईजीरियाई लड़कियों की रिहाई के लिए किया था। उन्हें यह बात बिल्कुल नहीं अखरती कि उनके देश पाकिस्तान में शिक्षा पर होनेवाला खर्च कुल जीडीपी का 2 प्रतिशत ही क्यों है और क्यों शिक्षा योग्य 2 करोड़ 50 लाख बच्चे तीसरी कक्षा के पहले ही विद्यालयों से बाहर हो जाते हैं। उसके देश के 1 करोड़ बच्चों को ईट भट्टे पर क्यों काम करना पड़ता है। वह अब इस्लाम के साँचे खाँचे में शिक्षा के महत्व पर बात करती हैं परन्तु स्त्री उत्पीड़न को औचित्य प्रदान करने वाली इसकी भूमिका को नज़रअन्दाज कर जाती हैं। सार्वजनिक शिक्षा की सर्वसुलभता

उनकी माँग का एजेण्डा नहीं बन पाता। साम्राज्यवादी ताकतों ने एक प्रतीक चिह्न के रूप में किस तरह मलाला का इस्तेमाल कर लिया है, यह प्रत्यक्ष है।

पाकिस्तान (या अन्य किसी देश) की लड़कियों की शिक्षा के प्रति इन पुरस्कार समितियों का सरोकार एक भ्रमजाल से अधिक कुछ नहीं है। नोबल कमेटी के वर्तमान अध्यक्ष थॉर्बजार्न जगलैंड का पाखण्ड इस एक वाक्य से ही प्रकट हो जाता है जो उन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध में कहा था- 'आतंकवाद में खींच लिये जाने की जगह उन्हें स्कूल जाने दो।' यानी आतंकवाद न होता तो वहाँ स्कूलों और शिक्षा का कोई विशेष महत्व नहीं होता। जैसे यह अधिकार नहीं विवशता है। आज पाकिस्तानी लड़कियों की शिक्षा के लिए साम्राज्यवादी देश अत्यन्त संवेदनशील हो उठे हैं। नवउदारवाद के प्रबल पक्षधर इंग्लैंड के राजनीतिज्ञ गार्डन ब्राउन तो उनकी शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए आज सद्भावना दूत का काम करने लगे हैं, यही नहीं वे तीसरी दुनिया में लड़कियों की शिक्षा के लिए काम कर रहे स्वयंसेवी संगठन मिलेनियम डेवलपमेण्ट के भी सद्भावना दूत बन गये हैं। लड़कियों की शिक्षा के प्रति आज अतिचिन्तित ये वही दक्षिणपंथी राजनेता हैं जिन्होंने शिक्षा और स्वास्थ्य के निजीकरण की रफ्तार तेज करने में जरा भी हिचक नहीं दिखाई और जब विरोध में मेहनतकश नौजवान और छात्र सड़कों पर उतरे तो उनसे निपटने के लिए उन्होंने बड़ी तत्परता से सेना का सहारा लिया। सद्भावना की कलाई खोलने के लिए यह एक ही तथ्य पर्याप्त है कि इराक पर बमबारी के पक्ष में, जिसने हज़ारों बच्चों को मौत की नींद सुला दिया, इस दूत ने न केवल अपना मत दिया अपितु इसके लिए फंड भी उपलब्ध कराया था।

नोबल शान्ति पुरस्कार वास्तव में साम्राज्यवादी एजेण्डा है। इसके हकदार वे लोग और वित्तपोषित ऐसी स्वयंसेवी संस्थाएँ होती हैं जो जनता के बीच नवउदारवादी नीतियों की स्वीकार्यता बनाने में 'विचारधारात्मक पारगमन टिकट' के तौर पर काम कर सकें। यानी वर्ग संघर्ष से वर्ग सहयोग की ओर! यह नवसाम्राज्यवाद का जनविद्रोह-विरोधी रणनीति है। बाल अधिकारों के प्रति साम्राज्यवादी देश, उनकी सेवा में सन्नद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ और देशी विदेशी अनुदान से संचालित स्वयंसेवी संस्थाओं के मानव प्रेम का पहलू आज इसीलिए इतना मुखर हो उठा है ताकि नवउदारवादी नीतियों के अमल से जन्मे स्वतःस्फूर्त जन उभारों और जनआन्दोलनों को व्यवस्था के भीतर ही संगठित करके एक प्रतिसन्तुलकारी शक्ति का निर्माण किया जा सके और मौजूदा चौहद्दी में ही अर्थव्यवस्था के विकास के नाम पर अनुग्रहवादी व गरीबी कार्यक्रम को फंड देकर जन समर्थन हासिल किया जा सके। इसलिए इस तरह के तमाम सामाजिक उपक्रमों में संसाधनों के प्रश्न को तकनीकी कहकर खारिज नहीं किया जा सकता यह बेहद महत्वपूर्ण और निर्णायक राजनीतिक प्रश्न है। अनुदान की चाशनी में पगाकर ऐसी अज्ञात 'लोकहितैषी' पूँजी का निवेश साम्राज्यवादी दाता एजेंसियों द्वारा उदारतापूर्वक किया ही इसीलिए जाता है ताकि नवउदारवादी नीतियों और योजनाओं का सिद्धान्त और व्यवहार में विकास, किसी जनप्रतिरोध की गुंजाइश के बिना, जनकल्याण नामधारी कार्रवाइयों के माध्यम से सफलतापूर्वक किया जा सके। ये स्वयंसेवी संस्थाएँ कैलाश सत्यार्थी, मोहम्मद यूनुस जैसे सिपहसालारों को इसलिए भी तैनात करती हैं ताकि वे रैडिकल परिवर्तन के मिथक को औचित्य प्रदान करने और उसे बढ़ावा देने का काम भी करते रहें। परन्तु लोकोपकार के बेलबूटे वाला छद्म मानवीयता का यत्नपूर्वक डाला गया यह आवरण अब संकटग्रस्त नवसाम्राज्यवादी

यथार्थ की ठठरी को छुपाने में असफल हो रहा है। नवउदारवादी नीतियों के नतीजे इसका भेद खोल रहे हैं। ज़ाहिर है, इस स्थिति ने साम्राज्यवादी थिंक टैंक के सामने अपनी रणनीति के पुनर्गठन की विवशता पैदा कर दी है। यह वही स्थिति है जिसे किसी अन्य सन्दर्भ में ग्राम्शी ने 'बुद्धि का निराशावाद' कहा था।



फ़ासीवाद क्या है और उससे कैसे लड़ें?

अभिनव सिन्हा

नयी महत्वपूर्ण सामग्री के साथ संवर्द्धित संस्करण

पृष्ठ : 204, मूल्य : 75 रुपये

मई 2014 में नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा की ज़बर्दस्त जीत के बाद यह बात स्पष्ट हो गयी है कि फ़ासीवाद उत्तरवर्ती पूँजीवादी समाज के सड़ते-गलते ढाँचे की स्थायी परिघटना है। मगर फ़ासीवाद के प्रति बहुत से बुद्धिजीवियों व आन्दोलन के अनेक हलकों में व्याप्त 'डिनायल मोड' तथा भ्रामक अवधारणों और सूत्रीकरणों के मद्देनज़र और भी ज़रूरी हो गया है कि आज के फ़ासीवादी उभार को उसकी ऐतिहासिकता और विशिष्टता में समझा जाये और सूत्रबद्ध किया जाय। इक्कीसवीं सदी के उत्तरवर्ती पूँजीवाद के दौर में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की कार्यपद्धति और चरित्र में आये महत्वपूर्ण परिवर्तनों को समझते हुए आज के दौर के फ़ासीवादी आन्दोलनों के चरित्र की मार्क्सवादी-लेनिनवादी पड़ताल करने की ज़रूरत आज पहले से कहीं ज़्यादा है। बीसवीं सदी के अनुभवों के आधार पर ही फ़ासीवाद-विरोधी मजदूर आन्दोलन की रणनीतियाँ नहीं बनायी जा सकतीं। नये का अनुसन्धान करना होगा और साथ ही निरन्तरता के तत्वों की भी सटीक पहचान करनी होगी।

प्रस्तुत पुस्तक फ़ासीवाद के उभार के इतिहास के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक कारणों के विश्लेषण के साथ ही जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद के उभार और कार्यप्रणाली की चर्चा करती है तथा उनकी विशिष्टताओं के बारे में बताती है। यह भारत में फ़ासीवादी शक्तियों की जन्मकुण्डली का ब्योरा देते हुए यहाँ फ़ासीवाद की विशिष्टताओं के बारे में बताती है तथा इससे लड़ने की रणनीति और क्रान्तिकारी शक्तियों के कार्यभारों की भी चर्चा करती है।

पुस्तक के इस नये संवर्द्धित संस्करण में नरेन्द्र मोदी की चुनावी जीत के एक साल बाद लिखा गया एक पश्चलेख जोड़ा गया है। साथ ही भारत में फ़ासीवादी उभार पर एक पोलेमिकल लेख परिशिष्ट में दिया जा रहा है जिसमें फ़ासीवादी उभार की एक उदार बुर्जुआ और निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी वाम व्याख्या की आलोचना पेश की गयी है।

प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ-226020

फोन: 8853093555, ईमेल: info@janchetnabooks.org

वेबसाइट: janchetnabooks.org फेसबुक: [facebook.com/janchetnabooks](https://www.facebook.com/janchetnabooks)

एक महत्वपूर्ण नयी वैचारिकी दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

एक राजनीतिक-वैचारिक अस्पष्टता और अपूर्णता की स्थिति है। कोई बना-बनाया विकल्प और कोई पहले से तैयार राजनीतिक ताक़त मौजूद नहीं है जो कि मौजूदा जनउभारों को एक सही दिशा देकर क्रान्ति की तरफ़ मोड़ सके। एक तरफ़ पूँजीवादी व्यवस्था असमाधेय संकटों से घिरी हुई है, पहले हमेशा से ज़्यादा खोखली, मानवद्रोही हो चुकी है, और केवल जड़त्व की शक्ति से टिकी हुई है तो दूसरी तरफ़ श्रम का खेमा भी विचारधारात्मक विभ्रम, बिखराव और अस्पष्टता का शिकार है और स्वयं एक प्रकार के राजनीतिक संकट से जूझ रहा है। इसी व्यापक विचारधारात्मक, राजनीतिक और सामाजिक माहौल में हम 'दिशा सन्धान' के प्रस्ताव को लेकर आपके बीच उपस्थित हैं।

संक्रमण का यह दौर खुलकर सोचने, बहस-मुबाहसा करने, आन्दोलन और विचारधारा के सवालों पर सकर्मक विमर्श करने का है। यह समय है कि ऐसे सभी लोगों के बीच एक सही विचारधारात्मक, राजनीतिक अवस्थिति के निःसरण के लिए खुले विचारधारात्मक-राजनीतिक विनिमय, विमर्श और बहस-मुबाहसे का आयोजन किया जाय, जो अभी भी संशयवाद के हामी नहीं बने हैं, जो अभी भी किसी क्रान्तिकारी परियोजना के साथ प्रतिबद्ध हैं और उसके प्रति एक वैज्ञानिक आशावाद रखते हैं और जिन्होंने ऐसी क्रान्तिकारी परियोजना के साथ किसी न किसी रूप में खड़े होने के संकल्प को छोड़ा नहीं है। हम विनम्रता के साथ ऐसे सभी साथियों के बीच एक संवाद स्थापित करने के प्रस्ताव के साथ उपस्थित हैं।

तीसरे अंक की प्रमुख सामग्री इस प्रकार है:

विशेष लेख

- सोवियत समाजवाद के अनुभव: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ (तीसरी किस्त) – अभिनव सिन्हा
- नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती चार दशक: एक सिंहावलोकन (दूसरी किस्त) – दीपायन बोस
- उन समझदारों के लिए सबक जो हमेशा हाशिये पर पड़े रहना चाहते हैं – अभिनव सिन्हा
- महान बहस के 50 वर्ष – राजकुमार
- भावुकतावादी क्रान्तिवाद बनाम मार्क्सवादी-लेनिनवादी अप्रोच एवं पद्धति – कात्यायनी पुस्तक समीक्षा
- वामपंथी आन्दोलन के समक्ष कुछ विचारणीय प्रश्न – सुखविन्दर
- महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ
- इस्लामिक स्टेट का उभार और मध्य-पूर्व में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप का नया दौर
- यूनानी त्रासदी के भरतवाक्य के लेखन की तैयारी
- भूमण्डलीकरण के दौर में तीखी होती अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा
- कश्मीर में बाढ़, भारत में अन्धराष्ट्रवाद की औंधी और कश्मीरी जनता का बढ़ता अलगाव


सम्पादक: कात्यायनी, सत्यम

मूल्य: 100 रुपये

वार्षिक सदस्यता : 400 रुपये (डाक व्यय सहित 500 रुपये), त्रैमासिक

सम्पादकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006

ईमेल: dishasandhaan@gmail.com, फोन: 9936650658/8853093555

An abstract painting on a white background. It features several thick, black, expressive brushstrokes that create a sense of movement and depth. Some of these strokes are long and diagonal, while others are more vertical and textured. Scattered throughout the composition are numerous small, bright red dots and splatters, some of which are larger and more prominent. The overall effect is one of dynamic energy and contrast.

“जो लोग सच को जान ही
नहीं पाते, वे अहमक हैं, लेकिन
जो जानते-बूझते हुए सच को झूठ
बताते हैं, वे अपराधी हैं!”

— बर्टोल्ट ब्रेष्ट